

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 10 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2012

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

| | |
|--------------------------------|--------------|
| व्यक्तियों के लिए | 60.00 रुपये |
| संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए | 150.00 रुपये |
| विदेशों में | \$ 15 |

एक प्रति का मूल्य

| | |
|-------------------|-------------|
| व्यक्तियों के लिए | 20.00 रुपये |
| संस्थाओं के लिए | 40.00 रुपये |
| विदेशों में | \$ 4 |

विज्ञापन दरें :

| | |
|--------------------|-----------------|
| बाहरी कवर | 10,000.00 रुपये |
| अन्दर कवर | 7,500.00 रुपये |
| अन्दर पूरा पृष्ठ | 5,000.00 रुपये |
| अन्दर का आधा पृष्ठ | 3000.00 रुपये |

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : www.asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

| | |
|--|----|
| सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य | 5 |
| 1. जनतन्त्र में चुनाव प्रणाली | 9 |
| कैलाशचन्द्र पन्त | |
| 2. कार्टून विवाद और राजनीति विज्ञान की शिक्षा | 15 |
| शंकर शरण | |
| 3. उत्तर छायावादी गीत परम्परा और बच्चन | 27 |
| रामनिरंजन परिमलेन्दु | |
| 4. प्रसाद के उपन्यासकार का अलक्षित | 42 |
| पुष्पपाल सिंह | |
| 5. भारतीय दर्शन और उसका स्वातंत्र्योत्तर युग | 48 |
| श्रीप्रकाश दुबे, अम्बिकादत्त शर्मा | |
| 6. ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की ओर | 91 |
| दिनेश मणि | |
| 7. युग निर्माता बाबा साहब डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर और | |
| हिन्दी दलित साहित्य | 96 |
| तुकाराम दौड | |

| | |
|--|-----|
| 8. शान्त रस सन्दर्भ : संगीत कला | 105 |
| योगेश शर्मा | |
| 9. पुस्तक समीक्षा | |
| कविता के स्वप्न और संघर्ष की पहचान | 114 |
| मृत्युंजय उपाध्याय | |
| 10. पुस्तक समीक्षा | |
| गिरते हुए पत्तों का बयान : आम आदमी का दर्द | 119 |
| कामेश्वर पंकज | |
| पाठकीय प्रतिक्रिया | 124 |
| प्राप्ति-स्वीकार | 126 |

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

हम करें क्या?

परम्परागत भारतीय समाज में ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत थे: (क) समाज तथा बच्चे का परिवेश एवं (ख) परम्परागत विद्यालय। विद्यालय प्रायः हर गाँव में होते थे, जैसा कि धर्मपाल ने अपने *ब्यूटीफुल ट्री* में उद्घाटित किया है। अंग्रेजों के आने के बाद से ज्ञान के ये दोनों ही स्रोत लगातार सूखते चले गये। शिक्षा की परिभाषा बदली; साथ ही उसके प्रति दृष्टिकोण भी। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि परम्परागत विद्यालयों में हर जाति के बच्चे शिक्षा पाते थे; हर जाति के शिक्षक होते थे। परम्परागत शिक्षा सामाजिक मूल्यों की जानकारी देती थी, शिक्षित व्यक्तिके जीवन में उसे प्रतिस्थापित करती थी। आज शिक्षा मात्र सूचना बन कर रह गयी है। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि बच्चा शिक्षित होने के लिए किसी वस्तु को पहचाने या अवधारणा ही विकसित करें। उसके लिए उसे अंग्रेजी शब्दावली में जानना चाहिए; मातृभाषा का वहिष्कार शिक्षा की पहली शर्त हो गयी है। विद्यालय मूल्यों, यम-नियम, अच्छी बातों की जानकारी नहीं देते; समाचार पत्र बुरे को उछालते हैं; भाषायी तोड़-फोड़ करते हैं।

इस देश में बहुत कुछ बुरा हो रहा है जिसकी चर्चा लगातार होती है; अखबारी चीर-फाड़ से लेकर गोष्ठियों में, रेल के डब्बों में, गाँवों-शहरों के चौराहों पर, चाय-पान की दुकानों में। अच्छा भी बहुत कुछ हो रहा है, जिसकी जानकारी छिटपुट ही मिल पाती है। हमारे देश में आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो चुपचाप, अनाम रहकर, देश की, समाज की; भाषा, संस्कृति एवं साहित्य की सेवा कर रहे हैं; लेकिन बड़े स्तर पर उनकी पहचान गायब है; उनके कार्यों की जानकारी गायब है। अच्छा की, अच्छे कामों की जानकारी यदा-कदा ही किसी समाचार-पत्र, किसी पत्र-पत्रिका के कोने में दुबकी मिल जायेगी। यही बात किसी हत्यारे, शील-हरण-कर्ता या भ्रष्टाचारी पर लागू नहीं होगी।

पिछले दिनों पाकिस्तानी भाड़े के एक हत्यारे को चुपचाप फाँसी दे दी गयी। समाचार-पत्रों में होड़ लगी थी, उस समाचार को मोटे से मोटे अक्षरों में छापने की; सम्पादकीय विद्वता दिखाने की; मीडिया में छाये रणबाँकुरे स्तंभ-लेखकों के विश्लेषणात्मक विचारों को लोगों तक परोसने की। आश्चर्यजनक! सरकार ने तो कमाल ही कर

दिया!! एक हत्यारे को फाँसी दे दी, और वह भी चुपचाप!!! क्या कमाल कर दिया इस सरकार ने। एक हत्यारे को फाँसी दे दी, और वह भी चुपचाप। उसकी क्षमा याचिका भी रद्द का दी राष्ट्रपति जी ने।

वैसे कुछ समय पहले प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का स्वर्गवास हुआ था। वे महान विद्वान थे। स्वर्गवास या उनके काम की जानकारी समाचार पत्रों से गायब थी, सिवाय जनसत्ता के। दूसरे मंच भी चुप रहे। ध्यातव्य है कि ऐसा कोई अपवाद-स्वरूप नहीं हुआ था। इस देश में तंत्र की गड़बड़ी के चलते काम करना काफी नहीं होता। काम की मान्यता मिले, उसके लिए जुगाड़ बिठाना पड़ता है, स्वयं प्रयास करके या सत्ता के गलियारों में सक्रिय दलालों द्वारा। फिर सरकारी कृपा-कटाक्ष के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और असली काम रुक जाता है। इसलिए कुछ लोग जुगाड़ बिठाते हैं; काम करनेवाले काम करते हैं, चुपचाप, बिना फल की आशा किए। प्रसंगवश इसकी चर्चा कर दूँ कि हिन्दी का काम तो मैंने भी किया था, राष्ट्र-सेवा समझकर; पूर्वोत्तर एवं देश के अन्य हिस्सों की 64 जनजातीय भाषाओं के कोशों एवं शब्दावलियों, दर्जन से अधिक भाषाओं के व्याकरणों एवं स्वयं-शिक्षकों, तथा कुछ के लोक-साहित्य के प्रकाशन द्वारा हिन्दी एवं देवनागरी से उन्हें जोड़ने का काम। किन्तु विश्व हिन्दी सम्मेलनों में मैं, या कुछ अपवाद छोड़कर मेरे जैसे व्यक्ति, कहाँ रहे। 1980-81 में नागालैण्ड सरकार ने पद्मश्री के लिए दो बार नामित किया था, जो मिली नहीं। अंग्रेजी के माध्यम से काम होता तो शायद उससे अधिक भी पा जाता। मेरी, या मेरे जैसे अन्य लोगों की, राष्ट्रीय समस्याओं पूर्वोत्तर, नक्सलवाद, समाजिक विघटन एवं घटते सामाजिक सौहार्द आदि से जुड़ी समस्याओं के ज्ञान का कोई उपयोग तो नहीं ही है।

मेरे सामने बिड़ला के शुरू कराये समाचार-पत्र दैनिक हिन्दुस्तान का 20 नवम्बर 2012 का वाराणसी से निकलनेवाला संस्करण पड़ा है। ध्यातव्य है कि इस समाचार-पत्र के प्रथम अंक का विमोचन महात्मा गांधी के हाथों हुआ था, जो हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं के प्रबल समर्थक थे। उक्त समाचार-पत्र के एक समाचार का शीर्षक है: “महिला ने स्नेचर को धुना।” यहाँ ‘स्नेचर’ शब्द के लिए जो स्पष्टतः अंग्रेजी का snatcher है और ‘छीना-झपटी करनेवाला’ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है पाठक किस शब्द-कोश का प्रयोग करेगा? हिन्दी के शब्दकोश में तो यह शब्द मिलने से रहा। फिर हिन्दी अखबार पढ़ने के लिए अंग्रेजी शब्द-कोश के प्रयोग के बेतुकापन को आप क्या कहेंगे? भाषा पर समाचार-पत्र-कर्मियों का अत्याचार? सम्पादकीय काहिली? या गुण्डागर्दी? समाचार-पत्र के उसी अंक में प्रयुक्त कुछ अंग्रेजी के शब्द/वाक्यांश हैं: हेरिटेज सेल, नॉडल सेंटर, रीवर फ्रंट, सीओ, सेप्ट की कार्यशाला, डीपीआर, स्टील प्लांट, रोडवेज, कंसलटेंट, एडवोकेट जनरल, रजिस्ट्रार, प्रैक्टिकल, रीजल्ट, लगेज, हिस्ट्रीशिटर, वेंडर, एफिडेविट, कोर्ट, जज, प्रीलिस, कैग रिपोर्ट,

ऑफर, आरबीआई, सीबीआई, इमरजेंसी (डाक्टर), वालंटियर्स, अलर्ट, डीजीपी, यूपीए, पीएम, सीबीसी, सीबीआई, डायरेक्टर, एनजीओ, पेज, कमेंट, रेफर, केश, सस्पेण्ड, फंड, सुप्रिम, लेफ्ट (वाम दल के लिए), रूट (मार्ग, रेलमार्ग के लिए) हार्ट अटैक, बोगी, रिटायर, फायरिंग, चेकिंग, आटो, काउंसिलिंग, टीसी, माइग्रेशन, पिकेट, डिवाइडर, रोडवेज, बाइक, आरटीओ।

भाषा के साथ हमारे सांस्कृतिक दाय का प्रश्न भी जुड़ा है। हम बच्चों को पालने से उठाकर तथा-कथित ‘प्ले-स्कूल’ एवं नर्सरी-स्कूल में अंग्रेजी के शब्द रटाने के लिए भेजकर न केवल उसका बचपन, बल्कि उसका सांस्कृतिक एवं भाषायी दाय भी छीन लेते हैं। वैसे गलत शिक्षा-पद्धति एवं भाषा को अपभ्रष्ट करने की प्रक्रिया एक दूसरे की पूरक बनकर कार्यरत है। खतरे से समाज अवगत है। फिर भी बदलाव नहीं हो पा रहा है। वैसे इन सबका कारक सार्थक नीति एवं उसके परिपालन के लिए आवश्यक राजनीतिक इच्छा-शक्ति के अभाव में खोजी जा सकती है। फिर समस्त रोगों की जड़ में सत्ता-केन्द्रित राजनीति तो है ही।

कल राज्य सभा की कार्रवाई नहीं चल पायी। संसद का पिछला पूरा सत्र नहीं चला था। क्या इस प्रश्न का जवाब संसद नहीं चलने देनेवालों के पास है कि उस मुद्दे का क्या हुआ, जिससे चलते संसद के एक पूरे सत्र को गँवाना पड़ गया था? यदि वह मुद्दा इतना महत्वपूर्ण था तो फिर उसे भुला क्यों दिया गया? फिर संसद न चलने देने के प्रति क्या उनका वही रवैया रहेगा जब वे सत्ता प्राप्त करेंगे? दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तो यह है कि इस देश के सांसद जाने अनजाने इस बात को भूल रहे हैं कि संसद राष्ट्र की होती है, सांसदों की नहीं। फिर भारतीय राजनीति की झगड़ालू संस्कृति का अखाड़ा या रंगमंच तो संसद तथा विधान-सभाओं को बनने ही नहीं दिया जाना चाहिए।

हमारी असफलताएँ सार्थक विमर्श एवं नीतिगत बदलाव की माँग करती हैं। वैसे में संसद का चलने रहना निहायत आवश्यक है। दुर्भाग्यवश ऐसा हो नहीं रहा है। फिर ऐसा भी नहीं है कि यह राष्ट्र तथा इसके नेता यह नहीं जानते कि क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं? क्या गलत है और क्या सही? भटकाव कहाँ आया और क्यों? ऐसे में जानबूझ कर की गयी गलती का प्रतिफल हम भोग ही रहे हैं। वस्तुतः यह जानना ही काफी नहीं है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। आवश्यक है कि पहल की जाय, जो सार्थक हो। प्रत्येक शराबी जानता है कि शराब पीना बुरा है, फिर भी पीये बिना रह नहीं पाता। दुर्योधन जानता था कि धर्म क्या है, लेकिन धर्म में उसका मन ही नहीं लगता था। वह यह भी जानता था कि अधर्म क्या है, लेकिन उसी में उसका मन लगा रहता था। उसने कहा भी था:

जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः

जानाम्यधर्मम् न च मे निवृत्तिः

स्पष्टतः दुर्योधन जानकर भी अधर्म की राह पकड़े रहा। ऐसे में महाभारत तो होना ही था, जो हुआ भी। प्रश्न है कि जानबूझकर किए गलत के प्रतिकार एवं उचित कदम की पहल कैसे की जाय? आखिर हम करें क्या?

इस देश में हजारों गोष्ठियाँ होती हैं; अखबारों के कालम भरे जाते हैं; पुस्तकें लिखी जाती हैं। अधिकतर विमर्शों की प्रवृत्ति एवं दिशा समाज एवं राष्ट्र को कठघरे में खड़ा कराने की होती है। इनमें प्रायः ही तथ्यों की अनदेखी या इनके इकतरफा चुनाव की कमजोरी लक्षित होती है। कुछ विमर्श अच्छे एवं बुरे पक्ष को समान रूप से सामने लाते हैं। प्रायः ही यह नहीं बतलाया या सोचा जाता कि हम करें क्या? बदलाव का हमारा रास्ता क्या हो? लीक से हटकर समस्या के निदान का रास्ता क्या हो? इस पक्ष पर प्रायः ही सोचा नहीं जाता। ऐसे में आवश्यक है कि विमर्श की दिशा बदले। सघन विमर्श से उपजे विचार द्वारा जनमत में सार्थक बदलाव लाकर हम भारतीय राजनीति को प्रभावित कर सकते हैं, जिसके बिना नीतिगत बदलाव लाना एवं व्यवस्था की जड़ता खत्म करना संभव नहीं।

ब्रज बिहारी कुमार

जनतन्त्र में चुनाव प्रणाली

कैलाशचन्द्र पन्त*

यह एक सच्चाई है कि भारत में जब प्रजातान्त्रिक प्रणाली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था तब अनेक अन्तरराष्ट्रीय नेताओं और राजनीतिक विचारकों के मन में उसकी सफलता के प्रति सन्देह था। सन्देह के कारण भी मजबूत थे। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ बहुसंख्यक जनता अशिक्षित थी और अंग्रेजी सत्ता तथा शिक्षा ने अलगाव के बीज बो दिए थे, प्रजातन्त्र की सफलता सन्दिग्ध ही थी। फिर पड़ोसी देशों में आजादी पाने के कुछ ही वर्ष बाद सेना ने सत्ता पलट दी। आज भी दुनिया के कई देश तानाशाही व्यवस्थाओं से मुक्ति के लिए छटपटा रहे हैं। कुछ स्थानों पर रक्तपात के बाद सत्ता-परिवर्तन हो चुका है। ऐसी वैश्विक परिस्थिति में भारत में जनतन्त्र का अस्तित्व में बना रहना बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है। यदि इस तथ्य का गहराई से विश्लेषण किया जाए तो समझ में आ जाएगा कि भारतीय जनता में सहिष्णुता भी है और वह लम्बे समय तक सहन कर सकने में सक्षम है। जनता के साथ ही आजादी के बाद तत्कालीन नेतृत्व को भी श्रेय दिया जाना चाहिए, जिन्होंने नाजुक परिस्थिति में देश को गम्भीर नेतृत्व दिया।

उस संकटपूर्ण परिस्थिति से निकल जाने के बाद जनतान्त्रिक संस्थाओं की प्रखरता बढ़नी चाहिए थी। लेकिन ऐसा न होकर उनका अवमूल्यन होता चला गया। इसी कारण आज जनतान्त्रिक पद्धति पर प्रश्नचिह्न खड़े हो रहे हैं। हमें स्मरण रखना होगा कि भारत में जनतान्त्रिक पद्धति की असफलता के बहुत दूरगामी परिणाम होंगे, जो भारत को ही नहीं, सम्पूर्ण मानव सभ्यता को प्रभावित करेंगे। इसलिए कुछ विचारकों ने वर्तमान जनतान्त्रिक प्रणाली पर चिन्तनपरक विमर्श प्रारम्भ कर दिया है। यह एक विवेकशील राष्ट्र होने की निशानी है। जिस मुद्दे पर सबसे ज्यादा ध्यान केन्द्रित है वह है चुनाव प्रणाली। परन्तु विमर्श को गहरे उतरना होगा और चर्चा का

*कैलाशचन्द्र पन्त, मन्त्री-संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा परिषद् समिति एवं प्रधान सम्पादक, अक्षरा; पता : 9/35, सह्याद्रि परिसर, भदमदा रोड, भोपाल (म.प्र. 462003)

दायरा विस्तृत करना होगा। निस्सन्देह मौजूदा चुनाव प्रणाली ने अनेक विकृतियों को जन्म दिया है। यह भी सही है कि उचित सुधारों के बाद उन विकृतियों को काफी नियन्त्रित किया जा सकेगा। परन्तु यह मान लेना कि सिर्फ चुनाव प्रणाली में सुधार से ही जनतन्त्र को एक आदर्श राज्य-पद्धति के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, कोरा भ्रम है। फिर भी तात्कालिक समाधान के तौर पर इसे लेकर बहस को व्यापक बनाने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

यह निर्विवाद है कि राज्य की संकल्पना के पीछे नागरिकों को सुरक्षा देने के साथ मनुष्य जीवन के सर्वांगीण विकास का विचार रहा होगा। समय के साथ होने वाले अनुभवों ने विकास के नए-नए पक्ष खोज निकाले। सभी का गन्तव्य मानव समाज का कल्याण था। विचार अच्छा था, लक्ष्य भी अच्छा था। इसे पाने का माध्यम क्या हो और क्रियान्वयन किसके द्वारा कराया जाए इस बात को लेकर सामन्तवाद, पूँजीवाद, समाजवाद और मार्क्सवाद जैसी विचारधाराएँ प्रचलित हुईं। विभिन्न देशों ने इन सभी पद्धतियों का अपने-अपने ढंग से प्रयोग किया। परिणाम कहीं भी सुखद नहीं रहे। धीरे-धीरे राज्य की सत्ता को हस्तगत कर लेना ही लक्ष्य बन गया। इस उद्देश्य के लिए घोषित तौर पर सभी ने अपनी नीतियों को जनकल्याणकारी बताया। लेकिन सत्ता पर कब्जा जमाने के बाद सभी अपना आकलन करना भूल गए। यह कोशिश नहीं की गई कि जन को किस सीमा तक उन निर्णयों में भागीदार बनाया गया जो घोषित रूप से उसके हित में लिए गए। पूँजीवादी शासन प्रणालियों में धन बल और प्रचार तन्त्र को सशक्त माध्यम मान लिया गया। समाजवादी शासकों ने चुनावों को महज नाटक बना दिया और वे निरंकुश होते चले गए। एक प्रणाली ने जन को मुक्त तो बना दिया, लेकिन धन की उद्दाम भूख जगा दी और उसे स्व-केन्द्रित बनाया तो दूसरी ने मनुष्य को रोटी, कपड़ा और मकान की गारंटी देकर उसकी मौलिक स्वतन्त्रता ही नहीं छीनी, उसे सत्ता पर आश्रित बना दिया। एक अत्यधिक स्वच्छन्दता की शिकार हुई तो दूसरी मूक समाज की चरवाहा बन गई।

इसके कारणों का विश्लेषण किया जाए तो समझ में आ जाएगा कि विकास की अवधारणा का भौतिक पक्ष लेकर ही राज्य के उद्देश्य निर्धारित किए गए। सम्यक् जीवन का चित्र लेकर यदि बात की जाती तो राज्य नामक संस्था में अन्तर्निहित कमजोरियों पर ध्यान जाता। तब तीव्र प्रतिस्पर्द्धा और उससे सहज ही उत्पन्न होने वाली लाभ कमाने की प्रवृत्ति पर काबू पाने की बात सोची जाती। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं में लाभ पहुँचाने की शक्ति राज्य में केन्द्रित कर दी गई। स्वाभाविक था कि नागरिकों में अपनी भौतिक प्रगति की भूख जागे। इस तरह जनतन्त्र एक तरह से राज्य केन्द्रित हो गया। राज्य की उस शक्ति को हथियाने की होड़ बढ़ती गई। जनतन्त्र में इस प्रतिस्पर्द्धा ने जन को माध्यम बनाया और उसका वोट हासिल करने के उपाय ढूँढ़े जाने लगे। आजकल की पत्रकारिता की भाषा में

लोक-लुभावन नीतियों की घोषणा सबसे महत्त्वपूर्ण हथियार बन गई। इसका सीधा अर्थ है कि जनतन्त्र के छद्म में एक समूह या दल द्वारा सत्ता का निजी स्वार्थों के लिए दोहन। यदि भारत में जनतन्त्र की वास्तविक पड़ताल करनी हो तो हाल ही में सरकारी स्तर पर भ्रष्टाचार के जो काण्ड उजागर हुए हैं वे क्या किसी व्यक्ति या समूह या दल के द्वारा किया जा रहा अनैतिक कृत्य नहीं है, जिसका प्रतिकार करने की भी क्षमता जन में शेष नहीं रह गई है। वह अपनी लाचारी बताकर चुप हैं। गाँधी जी ने स्वराज्य का अर्थ समझाते हुए लिखा था

“स्वराज्य की रक्षा केवल वहीं हो सकती है, जहाँ देशवासियों की ज्यादा बड़ी संख्या ऐसे देशभक्तों की हो, जिनके लिए दूसरी सब चीजों से अपने निजी लाभ से भीदेश की भलाई का ज्यादा महत्त्व हो। स्वराज्य का अर्थ है देश की बहुसंख्यक जनता का शासन। जाहिर है कि जहाँ बहुसंख्यक जनता नीति-भ्रष्ट हो या स्वार्थी हो, वहाँ उसकी सरकार अराजकता की ही स्थिति पैदा कर सकती है, दूसरा कुछ नहीं।” (स्वराज्य का अर्थ : ‘हरिजन बन्धु’ 1933)

महात्मा का यह विश्लेषण कितना सही था। लोक-लुभावन घोषणाएँ करने के पीछे बहुसंख्यक जनता के हित की चिन्ता नहीं होती। लक्ष्य जनता को भरमाकर सत्ता पर कब्जा जमाना होता है। तब सवाल खड़ा होता है कि जनता भ्रमित ही क्यों होती है? इसीलिए ना कि वह निजी स्वार्थों को देशहित से ऊपर मान चुकी है। इन निजी स्वार्थों की पूर्ति चुनावों में ज्यादा होती है। स्वार्थ साधन में मतदाता से लेकर नेता तक धन पहुँचता है। दोनों के बीच की कड़ी बनने वाले माध्यम भी अपना हित साधन करते हैं। समाचार-पत्र भी (प्रजातन्त्र के चौथे खम्भे) चुनावों की अवधि में हरियाली चरते हैं। आर्थात् मौजूदा जनतन्त्र के चलते भ्रष्ट-तन्त्र को पनपने से रोका नहीं जा सकता। क्योंकि हमने जन को वोट का अधिकार तो दिया, उसके उपयोग के लायक नैतिकता का विकास नहीं किया। यदि आज देश में अराजकता दिखाई दे रही है तो उसका दायित्व बहुसंख्यक जनता पर है। वह गाँधी जी के शब्दों में नीति भ्रष्ट और स्वार्थी हो गई है। ऐसी परिस्थिति में यह अपेक्षा करना मृगतृष्णा ही है कि सिर्फ चुनाव-पद्धति में सुधार से भारत में जनतन्त्र को पटरी पर लाया जा सकेगा। यदि हम जनतान्त्रिक प्रणाली के वैकल्पिक स्वरूप पर चर्चा नहीं करते तो सारी बहस कोरी बौद्धिक विलासिता होगी।

विकल्प की बात करने से पूर्व हमें राज्य की संकल्पना के प्रमुख उद्देश्य पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। राज्य के नागरिकों की सुरक्षा और भौतिक जरूरतों की आपूर्ति तो बुनियादी लक्ष्य था। लेकिन महत् उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास था। इस विकास में उसका आन्तरिक विकास सन्निहित है। इस समग्र विकास को अभिव्यक्ति देने वाला सही शब्द स्वराज्य है, इस भाव का सर्वथा लोप हो जाना कि

वह किसी के अधीन है या कोई उसके अधीन है। तभी सच्चे स्वराज्य की अनुभूति सम्भव है। तब हमें 'स्व' का अर्थ समझना और समझाना होगा। स्व को शरीर मात्र मान लेने से तो उसकी बनावट, उसका आचरण, उसकी भाषा, उसकी इच्छाएँ आदि अनेक भिन्नताएँ सामने आती हैं। इन भिन्नताओं की विद्यमानता में विषमताएँ ही ज्यादा उभर सकती हैं। इस बिन्दु को राजनीतिक दर्शन का प्रस्थान बिन्दु माना जाए तो हम 'स्व' के उस अर्थ को आत्मसात करने की कोशिश कर सकेंगे जिसकी व्याख्या करते हुए महर्षि अरविन्द ने कहा था

“यह कहा गया है कि प्रजातन्त्र मनुष्य के अधिकारों पर आधारित है, इसका उत्तर यह दिया गया है कि इसकी बजाय उसे अपने को मनुष्य के कर्तव्यों पर आधारित करना चाहिए, किन्तु अधिकार और कर्तव्य दोनों ही यूरोपीय विचार हैं। भारतीय संकल्पना धर्म की है जिसमें अधिकार और कर्तव्य कृत्रिम विरोध छोड़ देते हैं। यह विरोध संसार के प्रति उस दृष्टिकोण की उपज है जो स्वार्थ को कर्म का मूल बनाती है। धर्म में अधिकार और कर्तव्य अपनी गहरी और चिरस्थायी एकता को पुनः प्राप्त कर लेते हैं।”

अरविन्द ने धर्म शब्द प्रयुक्त किया है। यूरोपीय सभ्यता ने धर्म को जिस अर्थ में ग्रहण किया है वह भारत में प्रयुक्त धर्म से सर्वथा विपरीत है। महात्मा गाँधी भी कहते थे

“मेरा विश्वास है कि भारत का ध्येय दूसरे देशों के ध्येय से कुछ अलग है। भारत में ऐसी योग्यता है कि वह धर्म के क्षेत्र में दुनिया में सबसे बड़ा हो सकता है। भारत ने आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक जैसा प्रयत्न किया है, उसका दुनिया में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।”

ये दोनों महापुरुष यूरोपीय शिक्षा-पद्धति और जीवन-शैली से अन्तरंगता से परिचित थे। दोनों जिस धर्म की बात कर रहे हैं उसी ने भारत को 'स्व' का बोध कराया है, उसी ने आत्मबल की शक्ति की पहचान कराई है। उसी ने यह ज्ञान दिया है कि तुम आत्मा हो जिसे अग्नि जला नहीं सकती, तलवार भेद नहीं सकती, पानी डुबा नहीं सकता। वह अमर तत्त्व है जो न जन्म लेता है, न मरता है। इस आत्मतत्त्व को समझने के बाद बाहर से दिखाई पड़ने वाली सारी विभिन्नता स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाती है। तब मनुष्य स्वयं की सीमाओं का उल्लंघन करता है। वह परिवार, समाज, देश, राष्ट्र, संसार की सीमाओं को लौंघता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकाकार होता है। जब तक हम इस एकात्मता को प्राप्त नहीं करते तब तक कटुता, कलह, लोभ, मोह, स्वार्थ आदि प्राकृत वृत्तियाँ हमें व्यापक हितों में व्यक्तिगत हितों का त्याग करने वाला मनुष्य नहीं बनने देंगी। जनतन्त्र के परिप्रेक्ष्य में इसे व्यक्ति का 'जन' बन जाना कह सकते हैं। मौजूदा जनतान्त्रिक पद्धति में धर्म की उपेक्षा ही नहीं, अवमानना भी

की गई है। क्योंकि इस प्रणाली का विचार उस भूखण्ड में हुआ जहाँ रिलीजन या मजहब के नाम पर अमानवीय अत्याचार और रक्तपात होता रहा। दुर्भाग्य से पश्चिम को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाने का सशक्त प्रयास स्वामी विवेकानन्द के बाद किसी ने नहीं किया। विडम्बना यह हुई कि उल्टे भारत में ही धर्म को रिलीजन या मजहब का पर्यायवाची बताया जाने लगा। जब धर्म विलग हो गया तो जनतन्त्र में नैतिकता के समाप्त हो जाने की सम्भावनाएँ बढ़ गईं। नैतिकता के बिना स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की व्याप्ति की कल्पना आकाश कुसुम तोड़ने के समान है। जिस अवधारणा की बुनियाद में ही धर्म का निषेध हो, वहाँ नागरिक में नैतिकता के उत्कर्ष की सम्भावना समाप्त हो जाती है। जनतन्त्र में सारी जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी तो कभी सम्भव नहीं है। जनता अपना विश्वास किसी एक प्रतिनिधि को सौंपती है और वह प्रतिनिधि किसी नेता को। विश्वास का यह आदान-प्रदान तभी सफल होगा जब सभी में नैतिक मूल्यों पर चलने की आत्मशक्ति हो। आत्म को नकार कर किस शक्ति की कल्पना की जा सकती है? इसी आत्मतत्त्व के सहारे ही तो सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखने की शक्ति अर्जित होती है और तभी बन्धुत्व का विस्तार हो पाता है। स्वार्थी व्यक्ति में समानता आती नहीं, बन्धुत्व होता नहीं, तब जनता स्वतन्त्रता का उपभोग कैसे कर सकेगी?

एक और तथ्य है जिसके बारे में हमारे समय में प्रचलित जनतन्त्र में कोई विचार ही नहीं किया गया। मनुष्य की कुछ प्राकृत वृत्तियाँ हैं। जैसेकाम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सर की बात भारतीय चिन्तन में बार-बार आती है। हमारी पौराणिक कथाओं में इन वृत्तियों का शमन करने के अनेक रूपक वर्णित हैं। देवी पुराण का गहराई से अध्ययन करने वाले बताते हैं कि विभिन्न प्रकार के असुरों का संहार करने के लिए देवी अनेक रूपों में प्रकट होती हैं। प्राकृत वृत्तियाँ ही असुर बनकर विकास की साधना में अड़चन पैदा करती हैं। जिसे जनता अपना विश्वास सौंपकर सत्ता की शक्ति देती है, वही भस्मासुर बन जाता है और अपने वरदाता को ही भस्म करने का प्रयास करता है।

इन वृत्तियों पर विजय प्राप्त करनी जरूरी है। इसका अर्थ है कि जनतन्त्र में वस्तुतः प्राकृत-विकृतियों से मुक्त होने पर ही उसमें अन्तर्निहित स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता का साक्षात्कार जनता को हो सकता है। मौजूदा जनतन्त्र ने जन की इस तैयारी के बिना इसे वह दायित्व देने की कोशिश की जिसको निभाने की क्षमता उसने अर्जित नहीं की थी। इस पर नैतिकताविहीन आचरण को निषिद्ध करने वाली धर्म की शक्ति को निस्तेज कर दिया गया। जनतन्त्र के प्रति मोह टूटने की वर्तमान स्थिति का विकल्प ढूँढने से पूर्व उन कारणों की पड़ताल जरूर की जानी चाहिए जिनकी वजह से यह स्थिति उत्पन्न हुई। कुलीनतन्त्र और राजतन्त्र के बाद प्रजातन्त्र की ओर मानव सभ्यता की यात्रा निश्चित रूप से एक बड़ा कदम थी। लेकिन यह डगमगा रही है।

राजतन्त्र और तानाशाही सत्ताओं से भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में आस्था टूटी होगी। कई स्थानों पर तो सत्ता-परिवर्तन के रक्त रंजित इतिहास लिखे गए। भारत में यह परिवर्तन बिना किसी संघर्ष के सम्भव हो सका था। लेकिन सत्ता पर काबिज हो जाने की लालसा में हिंसक झड़पें तो होने लगी हैं। शाब्दिक अस्त्र-शस्त्रों का इस्तेमाल तो खुलकर हो रहा है। जिस तरह बाहुबलियों और धनपतियों का वर्चस्व हमारे देश की राजनीति में बढ़ा है उससे सत्ता-संघर्ष किसी भी समय हिंसक रूप धारण कर सकता है।

ऐसी स्थिति आने से पहले ही सचेत हो जाना चाहिए। विवेकशील नागरिकों को गहन चिन्तन के द्वारा मौजूदा जनतन्त्र का विकल्प ढूँढना होगा अथवा इसी पद्धति में कुछ व्यापक सुधार करने होंगे जिससे हम जनतन्त्र का एक बेहतर प्रारूप दुनिया को दे सकें। गाँधी जी ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण का एक रास्ता सुझाया था। हमने उसे पंचायती राज का रूप देकर भ्रष्टाचार का विकेन्द्रीकरण अवश्य कर दिखाया। लेकिन विकेन्द्रीकरण के बुनियादी तत्त्वों पर विमर्श को आगे बढ़ाया जा सकता है। हमें इस बात पर विश्वास भी रखना होगा कि भारत में वह आत्मशक्ति मौजूद है जो विश्व को जनतन्त्र का बेहतर विकल्प प्रस्तुत कर सकता है। उस विकल्प में हम मानव के कल्याण का मार्ग प्रदर्शित कर सकेंगे। लेकिन पहले हम अपने घर को सँवारने की चिन्ता करें।

कार्टून विवाद और राजनीति विज्ञान की शिक्षा

शंकर शरण*

हाल में बच्चों की पाठ्य-पुस्तक में कार्टून विवाद डॉ. आम्बेडकर के प्रति आदर-अनादर में सिमटकर रह गया। अधिक महत्त्वपूर्ण बात उपेक्षित-सी रह गई कि राजनीति विज्ञान की औपचारिक शिक्षा का उद्देश्य और कथ्य क्या होता है? फिर बच्चों-किशोरों के लिए यह शिक्षा कैसी होनी चाहिए? कुछ सांसदों ने यह बात उठाई, पर मीडिया की बहस में इसे महत्त्व नहीं मिला। इससे दिखता है कि राजनीति विज्ञान, बल्कि पूरे समाज विज्ञान विषयों की शिक्षा के प्रति हमारे बौद्धिक वर्ग की समझ कितनी अधकचरी है। बहुतेरे लोग चालू टीका-टिप्पणियों को ही ज्ञान का पर्याय माने बैठे हैं।

कार्टून विवाद पर छपे सैकड़ों अखबारी लेखों में अधिकांशतः कुछ यही दृष्टिकोण झलका। जबकि नेताओं के प्रति आदर-अनादर से बड़ा प्रश्न यह था और है कि क्या किसी पाठ्य-पुस्तक के पाठ अपने किशोर पाठकों को संविधान, कानून, राज्यतन्त्र की प्राथमिक जानकारी देते हैं या नहीं? उसे पढ़कर क्या विद्यार्थी जान सकेगा कि संविधान होता क्या है? संविधान, कानून और दूसरे राजकीय नियम-कायदों में क्या अन्तर है? संसद या न्यायतन्त्र की संरचना और उनके प्रमुख कार्य क्या हैं? यदि चित्रों, कार्टूनों, पोस्टरों और नारों की भरमार और बहस में आनन्दित/उत्तेजित होने में यह बातें रह जाएँ, तो निश्चय मानिए कि हमारे बुद्धिजीवी और प्रोफेसरान स्वयं भारी अज्ञान में हैं। यदि उन्होंने जानते-बूझते इन प्रश्नों को उपेक्षित किया, तब तो उनका अपराध अक्षम्य हो जाता है।

अपने लेखों, भाषणों में कई बुद्धिजीवियों, और अभियुक्तों ने भी दुहराया कि लोगों ने उन कार्टूनों का अर्थ नहीं समझा। लेकिन उन्हें उत्तर देना चाहिए कि तब उन पाठ्य-पुस्तकों को अबोध, बाल-किशोर पाठकों से क्या अपेक्षा थी जिन्हें अभी वयस्क जीवन का वह अनुभव ही नहीं, जिससे वे राजनीतिक प्रसंगों के उचित-अनुचित की पहचान कर सकें? तब तो सांसदों का आरोप सही बैठेगा कि बच्चों में नेताओं के

*डॉ. शंकर शरण, IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्रीअरविंदो मार्ग, नई दिल्ली 110 016

प्रति दुर्भाव भरने के लिए ही वैसी सामग्री दी गई। वैसा करना राजनीति विज्ञान की शिक्षा देने के बदले शिक्षा का राजनीतिकरण करना हुआ। शिक्षा के बदले मतवादीकरण (इण्डॉक्ट्रिनेशन) करना हुआ।

किसी विषय के व्यवस्थित ज्ञान को शिक्षा कहते हैं, जबकि मतवादीकरण किसी विद्यार्थी को एक विशेष नजरिए में फाँसना, किसी मतवाद, राजनीतिक विचारधारा, आदि का समर्थक बनाना है। उदाहरण के लिए, संसद और सांसदों के कार्य, अधिकार आदि व्यवस्थित रूप से बताना, समझाना शिक्षा है। इसका इससे कतई कोई सम्बन्ध नहीं कि अमुक नेता या मन्त्री किस चरित्र के हैं। लेकिन यदि किसी पाठ्य-पुस्तक में संसद, सरकार, न्यायपालिका की संरचना आदि के स्पष्ट विवरण के बदले नेताओं और न्यायाधीशों की खिल्ली उड़ाने वाली सामग्री भर दें, तो यह निस्सन्देह मतवादीकरण होगा। किसी विचारधारा विशेष का प्रचार, जो विधायिका और न्यायतन्त्र का मजाक उड़ाती है। हमारा दुर्भाग्य है कि लम्बे समय से यही विचारधारा हमारे बौद्धिक वर्ग पर हावी है। इसीलिए वे बुनियादी बातों पर ध्यान देने के बदले गौण बातों में उलझे रहते हैं। यह युवा वर्ग को शिक्षित करने की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है।

इसकी पुष्टि इससे होती है कि स्वयं प्रमुख अभियुक्त के शब्दों में, “सांसदों की असली परेशानी कार्टूनों में उभरती उनकी खुद की छवि को लेकर है।” कि वे कार्टून “नेताओं और राजनीतिक प्रक्रिया पर व्यंग्य” करते हैं। कि उन कार्टूनों में “तंज है, चोट है”, जो “सैकड़ों” की संख्या में उन पाठ्य-पुस्तकों में दिए गए हैं। लेकिन वे भूलते हैं कि ठीक इन्हीं कारणों से वैसी चीजें शिक्षा-प्रद नहीं, बल्कि मतवादी सामग्री हो जाती हैं। वैसी सामग्री पाठक में एक विशेष, वितृष्ण मनोभाव पैदा करती है, जो राजनीतिक प्रचारक की चाह होती है। किसी शिक्षक की हो ही नहीं सकती।

उदाहरणार्थ, यदि बच्चों को न्यायपालिका के बारे में बताने वाले पाठ में न्यायपालिका की संरचना, उसका क्षेत्राधिकार, न्यायाधीशों की नियुक्ति, कार्यमुक्ति आदि सम्बन्धित विवरण के बदले पहले ही पृष्ठ पर मोटे-मोटे अक्षरों में, बॉक्स बनाकर प्रमुखता से यह लिखा मिले की “सुप्रीम कोर्ट का जज प्रायः मूर्ख और चापलूस होता है” तब क्या उसे शिक्षा कहेंगे? यह तो विशुद्ध वामपन्थी मतवाद है, जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था से लोगों को विमुख करने के लिए उसकी काली छवि खींचता है। ताकि ‘क्रान्ति’ करने की जमीन तैयार हो। किसी भी कम्युनिस्ट नेता का भाषण याद करें, उसमें किसी भी अवसर पर लोकतान्त्रिक संस्थाओं की अतिरंजित निन्दा के सिवाय शायद ही कोई तत्त्व समान मिलेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी प्रकार के राजनीतिक मतवादी को नापसन्द राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण करने के लिए सच-झूठ, सन्तुलित-असन्तुलित के भेद की चिन्ता नहीं रहती। क्योंकि उसका लक्ष्य ही होता है लोगों को आन्दोलित कर किसी तरह अपने मतवाद में लाने का जतन करना। हर वामपन्थी पर्व में ऐसी प्रस्तुति होती है। उसका उद्देश्य शिक्षा नहीं, अपने

नारे प्रचलित करना होता है। यदि समाज विज्ञान विषयों की औपचारिक शिक्षा में वही नारेबाजी हो तो वह शिक्षा की ओट में केवल मतवादीकरण है। विद्यार्थियों और उनके माता-पिताओं के साथ छल है। क्योंकि वह तथ्यों के बदले नारे, और ज्ञान के बदले गाली-गलौज सिखाने के समान है।

इसलिए जब समाज विज्ञान विषयों की पाठ्य-सामग्री की चर्चा हो, तब ‘अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता’ की आड़ लेना असली बात से ध्यान बँटाने जैसा है। अपने निजी विचारों, टीका-टिप्पणियों, सत्ताधारी या विरोधी नेताओं, संस्थाओं की निन्दा-आलोचना करने के लिए पार्टी-प्रेस से लेकर अखबार और टी.वी. चैनल तक बहुतेरे मंच उपलब्ध हैं, जबकि पाठ्य-पुस्तक मानक सन्दर्भ ग्रन्थ होते हैं। शब्द-कोष की तरह उनमें किसी विषय की प्रामाणिक, निर्विवाद प्रस्तुति रहती है। यदि उनमें लिखी बातें राजनीतिक फुटबॉल जैसी उछाली जाने लगे, तो अर्थ है कि उसमें पक्षपाती, दुराग्रही, असन्तुलित या अधूरी बातें हैं; कि उन बातों को देते हुए बच्चों की मानसिक क्षमता, अनुभव-स्तर, आवश्यकता, आदि का कोई ध्यान नहीं रखा गया; केवल अपनी राजनीतिक मनोभावना की तुष्टि कर ली गई कि हमने इसकी भी खिंचाई कर दी, उसकी भी कर दी; वह तुष्टि जो किसी राजनीतिक एक्टिविस्ट को अपने विरोधी के बारे में पोस्टर चिपकाकर होती है।

यह एक कड़वी सच्चाई है कि इसी मनोभावना में लम्बे समय से विचारधारा-ग्रस्त प्रोफेसर्स, लेखकों ने हमारे विश्वविद्यालयों से लेकर स्कूली शिक्षा तक को अपनी राजनीतिक झक फैलाने का औजार बना लिया है। असली चिन्ता इस पर होनी चाहिए। सम्पूर्ण समाज विज्ञान शिक्षा को कड़ाई से जाँचा जाना जरूरी है कि उसमें कितनी शिक्षा है, कितना मतवादी राजनीतिकरण। कितना विवरण तथ्यपूर्ण है, और कितनी राजनीतिक लपफाजी।

हम सोवियत संघ के अनुभव पर ध्यान दें, कि सात दशकों तक रूस में मतवादीकरण को ही ‘समाज विज्ञान शिक्षा’ मानने के क्या-क्या बौद्धिक, राजनीतिक दुष्परिणाम हुए। उसी रूसी मतवाद से घोर सहानुभूति रखने वाले प्रचारक ही हमारे प्रमुख विश्वविद्यालयों, अकादमिक संस्थानों का दुरुपयोग करते रहे हैं। इस तथ्य से भी कुछ निष्कर्ष लेना चाहिए। आखिर किसी विषय की सम्यक् जानकारी के बदले ‘अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता’ की ओर बहस क्यों घुमा दी जाती है? जबकि परख इसकी होना चाहिए कि किसी पाठ्य-पुस्तक से पाठकों ने क्या सीखा, और उससे वे क्या सीख ही नहीं सकते!

समाज शिक्षण विषयों में राजनीति विज्ञान और भी कठिन विषय है। कई लोग राजनीतिक प्रचार को राजनीतिक ज्ञान समझ लेते हैं। मगर राजनीतिक टिप्पणियाँ करने वाले, चुनावी विश्लेषक, टी.वी. एंकर, यहाँ तक कि असंख्य नेता व प्रचारक भी सदैव कोई राजनीति विज्ञान के ज्ञाता नहीं होते। कौटिल्य, प्लेटो, मार्क्स या रेमंड एरॉ

के दर्शन-चिन्तन से प्रायः वे वैसे ही कोरे होते हैं, जैसे दूसरे लोग। यही बात विदेश नीति, फासिज्म, मानवाधिकार, सेक्यूलरिज्म, न्यायतन्त्र, आदि अवधारणाओं और विविध देशों, समस्याओं, राजनीतिक संस्थाओं की समझ के प्रति भी सच है। इन्हें गम्भीर अध्ययन करके ही जाना जा सकता है। दैनिक टीका-टिप्पणियाँ करने या मजाक बनाने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। टिप्पणियाँ और कार्टून किसी व्यक्ति, समूह या जनभावना की अभिव्यक्ति हैं। उसमें स्वतः कोई ज्ञान नहीं है। रोष, उपालम्भ, मजाक, खीझ निकालना आदि को शिक्षा मानना भूल है।

इसीलिए, प्रामाणिक शोध, ठोस तथ्यों और विश्वस्त आँकड़ों के आधार पर निकलने वाले निष्कर्षों को ही किसी पाठ्य-पुस्तक में स्थान देने का चलन रहा है, किसी अनुमान, दलगत या विचारधारागत प्रचार या 'ऐसा कहा जाता है' के आधार पर नहीं। ठीक उसी तरह, जैसे प्रतिष्ठित लोकतान्त्रिक देशों के न्यायालयों में ठोस सबूतों के आधार पर ही किसी को दोषी या निर्दोष ठहराया जाता है। समाज विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों में, विशेषकर कम उम्र के विद्यार्थियों के लिए बनी पाठ्य-पुस्तकों में उसी कड़ाई से केवल तथ्य और प्रामाणिक निष्कर्ष ही देने चाहिए, ताकि विद्यार्थी की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति विकसित हो सके। हमारे नेता भ्रष्ट और न्यायाधीश मूर्ख हैं, या संयुक्त राज्य अमेरिका दुष्ट देश है, या अमुक अल्पसंख्यक समुदाय के साथ अन्याय हो रहा है, ऐसे खास मनोभाव वाले, बने-बनाए, पक्षपाती निष्कर्ष औपचारिक शिक्षा सामग्री में देना राजनीतिक प्रचार है। ऐसे विचार लिखने की जगह पत्र-पत्रिकाएँ हैं। कुछ लोग अपने विचारों के पुस्तकें भी लिखते ही हैं। मगर औपचारिक शिक्षा में वह सब देना भोले-भाले विद्यार्थियों में ज्ञान के बदले अज्ञान भरने और उसी को ज्ञान समझने का दोहरा घात करना है।

दुर्भाग्य की बात यह है कि कार्टून विवाद के प्रसंग में चली मीडिया-बहस में इन बिन्दुओं पर नगण्य चर्चा हुई। यही नहीं, पूरी बहस में शिकायतकर्ताओं को कम, और अभियुक्तों को बहुत जगह मिली। प्रायः अभियुक्त ही पीड़ित की वैचारिक-सार्वजनिक पिटाई करते रहे। क्या इसलिए कि अभियुक्त मीडिया के माने जाते हैं? कारण जो हो, मैच-फिक्सिंग की तरह यह एक बहस-फिक्सिंग जैसी होकर रह गई। कई मामलों में देखा गया है कि हमारे देश के प्रमुख अंग्रेजी मीडिया में एक बने-बनाए निष्कर्ष ही पाठकों, दर्शकों तक पहुँचाने के लिए सारे लेख, टिप्पणियाँ, परिचर्चा आयोजित होती है। गुजरात, सेक्यूलरिज्म, बिनायक सेन, कश्मीर आदि कई महत्वपूर्ण राजनीतिक, वैचारिक विषयों पर यही देखा गया है कि सम्बन्धित प्रश्न या समस्या के सभी पहलुओं को सामने आने ही नहीं दिया जाता।

यह कार्टून और पाठ्य-पुस्तक प्रसंग भी इसका अपवाद नहीं था। उदाहरण के लिए, कितने भारतीय अभिभावक इसके लिए तैयार होंगे कि उनके बच्चों को ऐसा व्यक्ति शिक्षा दे जो देशभक्ति की शिक्षा को 'सत्ता का जबरिया दबाव' कहता है? या

जो कश्मीर में भारतीय सेना को विदेशी अतिक्रमणकारी सेना ('आक्यूपेशन-आर्मी') मानता हो? या सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को 'मूर्ख, चापलूस' कहता हो? या 18 वर्ष के कम आयु के बच्चों-किशोरों को सेक्स सम्बन्ध बनाने से वर्जित करने को माता-पिता या अभिभावकों की 'तानाशाही मानसिकता' मानता हो? ऐसी बातें कोई प्रोफेसर व्याख्यान में कहे, या कार्टून बनाकर, या लेख लिखकर, तो बहुत कम माता-पिता ऐसे शिक्षक के हाथों अपने बच्चे को सौंपना चाहेंगे। मगर ऐसे बिन्दुओं को शिक्षा की किसी बहस में रखने ही नहीं दिया जाता, जबकि ये विचार उन अभियुक्तों के हैं जो कार्टून-विवाद पर उलटे राजनीतिज्ञों की वैचारिक पिटाई करके रहे।

सच यह है कि यदि शिक्षा को कार्टून में बदलने से रोकना हो, तो विचारधारा-ग्रस्त लोगों के हाथों उसकी जिम्मेदारी नहीं देनी चाहिए। एक महाशय हाई स्कूल के बच्चों को राष्ट्रपति चुनाव का तरीका बताना 'बेतुकी चीज' समझते हैं। पाठ्य-पुस्तक में देश-विदेश के असंख्य, जाने-अनजाने संगठनों, व्यक्तियों, स्थितियों के बारे में सैकड़ों अबूझ प्रश्न रख देना उन्हें बेतुका नहीं लगता। ऐसे-ऐसे प्रश्न जिनका उत्तर पाठ्य-पुस्तक में तो नहीं ही है, बच्चों के अभिभावक और शिक्षक भी उनका उत्तर नहीं जानते। वे प्रश्न राजनीति विज्ञान का बुनियादी ज्ञान देने की दृष्टि से कितने अनावश्यक और अनर्गल है, यह तो अलग रहा। मगर महाशय वैसी चीजों से पुस्तकें भर देना, संजीदा तथ्यों के बदले 'सैकड़ों कार्टून' और उतनी ही मतवादी टिप्पणियाँ देना अपनी उपलब्धि मानते हैं।

यह एक पुरानी कम्युनिष्ट बीमारी है। बरसों के अहर्निश प्रचार और गैर-कम्युनिस्ट दलों, विद्वानों के आलस्य, नासमझी आदि के कारण यह बड़े पैमाने पर कांग्रेसियों, गाँधीवादियों, लोहियावादियों आदि सबको लग गई है। यानी, जिस किसी पर लांछन लगाना, बड़बोले प्रश्न उठाना, हर जगह उत्पीड़ितों, वंचितों की खोज करते रहना, या गढ़ लेना, फिर उनके सम्बन्ध में काल्पनिक, अतिरंजित, रोष भरे प्रवचन देना, अन्तहीन समस्याएँ गिननायही सब वे प्राथमिक शिक्षा, सर्वोत्कृष्ट शोध, अकादमिक लेखन और विद्वत् व्याख्यान मानते हैं। उन्हें कोरी लफ्फाजी करने और तथ्यपरक जानकारी देने में कोई भेद नहीं दिखता।

सम्राट अशोक का रथ चलानेवाला उनके शासन के बारे में क्या सोचता था? यह सवाल रखकर एक प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार बड़े घमण्ड से चारों ओर देखती थीं, कि उन्होंने कैसी मौलिक बात कह दी! और अब तक के इतिहासकार गए-गुजरे थे, जो केवल राजा और उसके समय के विवरण इकट्ठा करने वाले 'फैक्टोग्राफर' मात्र थे! महोदया को इससे कोई मतलब न था कि वैसे प्रश्नों का उत्तर पाया भी जा सकता है या नहीं? स्वयं उन्होंने उस प्रश्न का कभी कोई उत्तर नहीं दिया, जबकि वह सवाल रखे चार दशक बीत गए। मगर, बस बड़े-बड़े, अनोखे, असम्भव,

अनर्गल प्रश्न उठाना ही वामपन्थी लेखकों, प्रचारकों का शगल रहा है। उनकी देखा-देखी कई लोहियावादियों को भी यह रोग लग गया है।

बहरहाल, उन महाशय का यह अफसोस दूर हो गया होगा कि राजनीति शास्त्र की पाठ्य-पुस्तक पर 'कभी विवाद नहीं हुआ'। स्वयं उन्होंने इसे पैदा किया। उन्हें इसकी भी शिकायत थी कि अब तक राजनीति शास्त्र की स्कूली पुस्तकें 'राजनीति' नहीं पढ़ाती थीं। केवल राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, आदि के कार्य-अधिकार, चुनाव के तरीके आदि 'बेतुकी चीजें' पढ़ाती थीं। अब विवाद से स्पष्ट हो गया कि 'राजनीति पढ़ाने' से उनका मतलब केवल गरमागरम राजनीतिक प्रचार करना है। यह वामपन्थी प्रचारक की अहं-भावना को तुष्ट करता है। चाहे यह शिक्षा की कीमत पर हो। शिक्षा विकृत होकर राजनीतिक नारेबाजी में बदल जाए। स्वभावतः यह कुछ लोगों को खुश और कुछ लोगों को नाखुश करेगी। मगर महाशय इससे यह सीख नहीं लेते कि उन्होंने शिक्षा के नाम पर मतवादी बातें लिख मारी हैं। उल्टे शिकायत करने वालों को मूर्ख या निहित स्वार्थ मानकर अपना पवित्र रोष प्रकट कर रहे हैं।

क्योंकि उन्हें निष्पक्ष मानदण्ड की फिक्र नहीं। वे विचारधारा को तथ्य से अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इसीलिए विचारधारा-ग्रस्त लेखक, प्रोफेसर पाठ्य-पुस्तक में अमेरिकी लोकतन्त्र की विशेषताएँ बताने के बजाय जगह-जगह अमेरिका-विरोधी छींटा-कशी करते रहना और जहाँ-तहाँ हिन्दू धर्म को शोषक, उत्पीड़क जैसी चीज बताना अपना शैक्षणिक कर्तव्य समझते हैं। देश के अन्दर भी किसी राजकीय संस्था के बारे में प्राथमिक जानकारी देना उन्हें बेतुका, बोरिंग लगता है। उसके बदले कार्टून, पोस्टर, नारेबाजी उन्हें मौलिक ज्ञान लगता है। इन्हीं चीजों को वे 'राजनीति पढ़ाना' समझते हैं। यानी अपने मन में आने वाली हर झक, हर 'नई चीज' को भोले विद्यार्थियों के सामने रख देना, जो बेचारे राजनीति की कोई परिभाषा तक नहीं कर सकते! यह बुनियादी बात भी नहीं जानते के घरेलू झगड़े और राजनीतिक झगड़े में क्या अन्तर है? कोई अन्तर है भी या नहीं?

इतना ही नहीं, जनवादी अहंकार में कई महाशय पाठ्य-पुस्तक लिखना समाज की महान सेवा समझते हैं। पहले ही कई मार्क्सवादी-वामपन्थी अपनी प्रोफेसराना कुर्सियों से कह चुके हैं कि स्कूली पाठ्य-पुस्तकें लिखना 'घटिया और छोटा काम' है, चाहे वास्तव में वे दर्शकों तक हर तरकीबें करते रहे कि यह काम किसी और के हाथ में न जाए, क्योंकि इससे धन, यश और प्रभाव हासिल होता रहा है। फिर, अपनी हिन्दू-विरोधी, भारत-विरोधी, लेनिनवादी-माओवादी आइडियोलॉजी के कीटाणु भोले-भाले पाठकों में भर देने का अवसर व साधन मिलना अलग बोनस है, जिससे कामरेडों की क्रान्तिकारी मनोवृत्ति तृप्त होती थी। मगर किसी कारण वे सार्वजनिक भंगिमा यही बनाते थे, कि पाठ्य-पुस्तकें लिखना 'छोटा काम' है, कि हम तो सेवा करने के लिए

लिख देते हैं, हमें क्या मिलता है, आदि। वस्तुतः पाखण्ड और अहंकार, किसी भी विचारधारा-ग्रस्त मानसिकता के अनिवार्य तत्त्व हैं।

महाशय के अनुसार, 'किसी इलाके की राजनीति के बारे में वहाँ के पत्रकार किसी राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर से ज्यादा जानते हैं।' इस निष्कर्ष का आधार? कोई गम्भीर विद्वान ठोस आँकड़े, प्रामाणिक तथ्यों का भण्डार जुटाए बिना कभी कोई निष्कर्ष नहीं देता। यह सच्ची विद्वता का पहला और अचूक लक्षण है। जबकि राजनीतिक प्रचारक अपने अनुमान, राजनीतिक झुकाव, आदि को ही निरन्तर दुहराते हुए स्वयं अपने अन्धविश्वास को सच मानने लगता है। मौका मिलते ही वही पढ़ाने, रटाने भी लगता है। सोवियत संघ का सम्पूर्ण अकादमिक, राजनीतिक वर्ग तीन पीढ़ियों तक इसी रोग से ग्रस्त रहा। भारत के तमाम मतवादी भी यही दिखाते हैं। किसी निष्कर्ष का आधार पूछते ही उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं, कि ऐसा पूछने वाला जरूर किसी विरोधी पार्टी या विचारधारा का एजेंट है! मानो किसी बड़े कुर्सीदार लेखक-प्रचारक से किसी निष्कर्ष का स्रोत, प्रमाण माँगना उसकी तौहीन करना है।

इसलिए बच्चों की पाठ्य-पुस्तक में नेताओं, न्यायाधीशों, अमरीकियों, आदि के मजाक उड़ाने वाले 'सैकड़ों कार्टून' देने की कैफियत पूछना महाशय को हैरत में डाल देता है। मानो इसकी उपयोगिता स्वयं-सिद्ध हो! उन्हें सोचने की कोई जरूरत नहीं कि दुनिया के हर कोने में पाठ्य-पुस्तकें संजीदा, मानक, सन्दर्भ-ग्रन्थ जैसी चीज होती हैं। प्रतिष्ठित शब्द-कोष जैसी, जिसे किसी बात को प्रामाणिक रूप से जानने के लिए ही खोला जाता है। किसी के ओपीनियन, मताग्रह पढ़ने के लिए नहीं। उसके लिए अखबार के पन्ने होते हैं। कार्टून भी ओपीनियन ही हैं। नहीं तो, महाशय ने बाल ठाकरे का बनाया हुआ कार्टून क्यों नहीं लिया? अभी भारत में सबसे विशेष सबूत रखने वाले राजपरिवार का मजाक बनाने वाले कार्टून क्यों नहीं जोड़े? क्योंकि, प्रथम, उन्हें अपने ओपीनियन को पुष्ट करने वाले कार्टून ही लेने थे। दूसरे, जिस राजनीतिक समीकरण के बल पर अपनी निजी तरक्की जुड़ी है, उसमें विशेष शक्तिधारियों की कुदृष्टि से बचना हर हाल में जरूरी है। अतः अपने मतवादी प्रचार को शिक्षा का जामा पहनाने में उन्होंने केवल विशेष प्रकार के कार्टूनों का उपयोग किया। अब विवाद हुआ तो कह रहे हैं कि वे कार्टून तो बड़े सम्मानित कार्टूनिस्टों के बनाए हुए हैं। जबकि मामला यह नहीं कि कार्टूनिस्ट कितने योग्य हैं, बल्कि कुछ विशेष प्रकार के कार्टूनों से बच्चों के कच्चे दिमाग को विषाक्त किया गया या नहीं?

निस्सन्देह, उन सुयोग्य कार्टूनिस्टों ने उन कार्टूनों को बच्चों की पुस्तक के लिए नहीं बनाया था। वे कार्टून उन वयस्क, जानकार नागरिकों के लिए बनाए गए थे जो किसी अखबार के पाठक थे, और तात्कालिक प्रसंग और उसकी तफसीलों से पूर्णतः परिचित थे। फिर अखबार को कोई रिजेक्ट कर सकता है, बदल दे सकता है। क्या

कोई बच्चा अपनी पाठ्य-पुस्तक खारिज कर सकता है? यानी, उस पर वह कार्टून और उसका राजनीतिक, मताग्रही सन्देश थोपा गया है। अखबार निजी, स्वैच्छिक, स्वतन्त्र क्षेत्र की चीज है, जिसमें छपी हर चीज के प्रति स्वीकृति रखना जरूरी नहीं। जबकि बच्चा अपनी पाठ्य-पुस्तक को आधिकारिक ज्ञान मानता है, जिस पर उसे श्रद्धा-भाव होता है। क्या इससे स्पष्ट नहीं कि बच्चों की पाठ्य-पुस्तक में विशेष राजनीतिक झुकाव की चीजें दे-देकर कितना बड़ा अनर्थ किया जाता है?

ऐसे अनगिनत गम्भीर बिन्दुओं को ढँककर महाशयों ने कार्टून के सैद्धान्तिक महत्त्व और कार्टूनिस्टों की प्रतिष्ठा के पीछे अपना बचाव करने की कोशिश की। यह दयनीय कोशिश दर्शाती है कि वे कितने पानी में हैं। मगर उन्हें फिक्र करने की कोई बात नहीं। अंग्रेजी मीडिया का राजनीतिकरण इतना गहरा हो चुका है, कि उसने मामला उठते ही पूरी ठसक से अभियुक्त को ही जज बना दिया। जब बेचारे सांसद भी अपनी बात को सुसंगत रूप में मीडिया में देख पाने को तरसकर रह गए, तब मामूली शिक्षकों, अभिभावकों और सामान्य जग-गण की भावना कौन पूछता है।

राजनीति विज्ञान की शिक्षा पर किसी भी चर्चा में यह आरम्भ से ही स्पष्ट रहना चाहिए कि राजनीति का अध्ययन गणित या भाषा के अध्ययन से नितान्त भिन्न है। सच पूछें तो, यह नैतिकता के अध्ययन से अधिक निकट है। अतः इसे समझने के लिए जीवन का थोड़ा अनुभव होना आवश्यक होता है। इस प्रकार, राजनीति के अध्ययन की सीमा विद्यार्थी की क्षमता के अनुरूप सीमित रहती है। इससे पहले कि कोई राज्य, कानून, शासन, न्यायालय, चुनाव आदि धारणाएँ समझ सके, उसे कुछ राजनीतिक अनुभव भी होना आवश्यक है। यह अनुभव कि समाज और समूह में सही और गलत की समस्याएँ क्या हैं, किसी तरह परिवार या निजी जीवन की सही-गलत की धारणा से भिन्न होती हैं। यह बहुत जटिल बिन्दु है। इस दृष्टि से कहना चाहिए कि स्कूली बच्चे राजनीति का वास्तविक अध्ययन नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें कई जरूरी बातों का अनुभव होना शेष रहता है।

अतः बच्चों के लिए राजनीति विज्ञान की कुछ धारणाओं तथा संस्थाओं की प्राथमिक समझ दे पाना भी आसान नहीं है। तब उन्हें ऐसी टिप्पणियाँ, एक्टिविस्ट मुहावरे, असंख्य नए-नए और विदेशी फैशनेबल नारे, अबूझ चित्रांकन या चालू मजाक वाले कार्टून आदि देना तो बहुत बड़ी भूल है। इसके पीछे राजनीति विषय की गम्भीरता के बदले ठीक उल्टी समझ बन जाती है कि बिना किसी विशेष अध्ययन के भी इसे कोई भी समझ सकता है। इस प्रवृत्ति से हम बच्चों को नेताओं का मजाक बनाना तो सिखा सकते हैं, मगर वे किसी भी राजनीतिक अवधारणा या संस्था को नहीं समझ सकेंगे। यह प्रत्यक्ष परीक्षण करके देखा जा सकता है। ढेर सारे नारे, मुहावरे, हस्तियों, घटनाओं के नाम, चित्र या सांकेतिक उल्लेख से भरे पाठ से वे या तो कुछ नहीं समझेंगे, या पूरी तरह गलत समझेंगे। अधिकांश शिक्षक भी इसमें उलझकर रहे

जाएँगे। विशेषकर विदेशी घटनाओं, प्रसंगों और हस्तियों के उदाहरणों, उल्लेखों पर हमारे स्कूली और अनेक कॉलेज शिक्षक भी बिना गहरी खोज-बीन किए नहीं समझ सकते कि उनका सम्पूर्ण या वास्तविक अर्थ क्या था।

जहाँ तक हमारे नेताओं पर कटाक्ष आदि की बात है, तो यह कहना लफ्फाजी है कि समाज में जो हो रहा है, वह तो बच्चे देखते ही हैं और उसे पाठ्य-पुस्तकों से अलग कैसे रखा जा सकता है। इसमें बुनियादी भूल यह है कि राजनीतिक क्षेत्र के ऊपरी, सार्वजनिक व्यवहार या कदाचार को ही आदि-अन्त मान लिया गया है। मानो रोज किसी बैंक के भवन या रेल के इंजन को देखने वाला बैंकिंग या लोकोमोटिव की पूरी व्यवस्था, कार्य और संरचना को भी समझ सकता है। वस्तुतः राजनीति विज्ञान उससे भी जटिल विषय है। सरकार की इस या उस नीति की भरपूर आलोचना करने और नसीहतें देने वाले स्वयं जिम्मेदारी दिए जाने पर प्रायः उतने ही निकम्मे साबित होते हैं। कारण यही है कि उन्होंने ऊपरी अवलोकन को ही गहन ज्ञान समझ लिया था।

यहाँ प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और शिकागो विश्वविद्यालय के पूर्व चांसलर रॉबर्ट हचिन्स की टिप्पणी विचारणीय है, “मैंने खगोलशास्त्रियों का नाम सुना है जो सोलह वर्ष की आयु से पहले ही अन्तरराष्ट्रीय विशिष्ट पत्रिकाओं में शोध-पत्र लिखते रहे हैं। किन्तु मैंने किसी ऐसे बच्चे के बारे में नहीं सुना जो सामाजिक संगठन और मनुष्य के भवितव्य के बारे में कोई उपयोगी बात कह सका हो।” यह सामाजिक, राजनीतिक, मानवीय प्रश्नों की अत्यधिक जटिलता का ही संकेत है। इससे पता चलता है कि नेताओं, संस्थाओं पर फक्तियाँ कसना आसान है, किन्तु किसी समस्या को अपने सम्पूर्ण रूप में समझ भी पाना अत्यन्त दुष्कर है, समाधान करना तो दूर रहा। अतः बच्चों को पहले प्राथमिक अवधारणाएँ गम्भीरता से समझाने के बदले सस्ती नारेबाजी और छिछोरी टिप्पणियाँ सिखाना भारी अनर्थ करना है।

समाज विज्ञानों में राजनीति सबसे कठिन विषय है। इसे पूरी तरह समझ पाना कुछ असम्भव ही है। इसलिए बच्चों को राजनीति की शिक्षा देने में ‘कम सीखें, पर बेहतर सीखें’ भर ही लक्ष्य रखना चाहिए। जो लोग अपने पसन्द के सभी नारे और सभी निन्दा-आलोचना थोक भाव में बच्चों तक पहुँचा देना चाहते हैं, वे न राजनीति विज्ञान समझते हैं, न बच्चों को। बच्चे कच्चे मस्तिष्क के होते हैं। यदि समय से पहले ही उन्हें सामाजिक-राजनीतिक प्रसंगों के बारे में बहुत अधिक बताने की कोशिश करें तो उनके बौद्धिक मिथ्याचार की ओर बढ़ने का सीधा खतरा है। वे बिना समझे ऐसी बातें दुहराने लगेंगे जिसे उन्होंने न समझा, न अनुभव किया है। यह भी शिक्षा के बदले मतवादीकरण (इण्डॉक्ट्रिनेशन) ही है, जिस गलती से हर हाल में बचना चाहिए।

फिर राजनीति एक संवेदनशील विषय भी है। स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, एकता, भेद-भाव आदि धारणाओं को नितान्त विभिन्न अर्थों में बताया जा सकता है।

लेनिन, गाँधी और खुमैनी तीनों के लिए उपर्युक्त शब्दों के अर्थ भयंकर रूप में भिन्न थे! जबकि इन शब्दों को तीनों के लेखन-भाषण में पाया जा सकता है। क्योंकि राजनीति विभिन्न हितों, विचारों के कटु संघर्ष का मैदान भी है। इसमें राष्ट्रों, समूहों, मजहबों, दलों, नेताओं के हित टकराते भी हैं। इसीलिए कई बार एक ही शब्द बिलकुल भिन्न अर्थों के साथ प्रयुक्त होते हैं, तो कभी-कभी एक ही चीज को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। इसलिए भी बहुत-सा राजनीतिक विमर्श भ्रामक तथा अस्पष्ट रहता है। इससे भी समझा जा सकता है कि क्यों बच्चों के लिए वास्तविक राजनीति समझना दूभर है। वस्तुतः बिना गम्भीर अध्ययन, अवलोकन के वयस्क भी इसे नहीं समझ सकते।

दूसरी ओर, राजनीति विज्ञान में कई शब्द अर्थ के साथ-साथ एक अतिरिक्त नैतिक मूल्य भी रखते हैं। वे प्रेरित करते, अनुशंसा करते, आदेश देते, प्रशंसा या निन्दा करते हैं, आदि। यह भाव उन शब्दों में अन्तर्निहित होता है। जब हम 'महान' (विचार, नेता, आदि), (लोकतान्त्रिक अधिकारों का) 'उल्लंघन' या (किन्हीं समुदाय की) 'उपेक्षा' जैसे शब्द कहते हैं तो यह हो नहीं सकता कि हम उनका अर्थ लें और उनमें जुड़ा हुआ प्रशंसात्मक या निषेधात्मक भाव छोड़ दें। जैसे ही हम 'अधिकार' या 'न्याय' कहते हैं, वैसे ही हम एक मूल्यांकन भी करते हैं। इन शब्दों के प्रयोग मात्र से हम किसी स्थिति को जायज या नाजायज कह रहे होते हैं। उदाहरण के लिए, माओ को 'महान' या 'तानाशाह' कहने में शब्द चुनते ही स्वतः एक अतिरिक्त सन्देश पहुँच जाता है। इसीलिए राजनीति विज्ञान के शिक्षण में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, ताकि बच्चों को सचमुच मानक ज्ञान दिया जाए। अन्यथा लापरवाही में हम उनके मस्तिष्क को छिछले विचारों से भ्रष्ट कर सकते हैं। यह उनके साथ छल करना है।

किसी अन्य विषय में शब्दों का इतना ढीला-ढाला या लापरवाही से प्रयोग नहीं होता जितना राजनीति में। कॉनवेल लेविस ने सन् 1832 में ही एक पुस्तक लिखी थी, 'ऑन द यूज एण्ड एब्ज्यूज ऑफ पोलिटिकल टर्म्स।' उसकी आवश्यकता आज पहले से कई गुना बढ़ गई है, क्योंकि राजनीतिक शब्दों के साथ-साथ नारों, मुहावरों की बाढ़ आ गई है। उनके उपयोग के साथ-साथ दुरुपयोग भी बढ़ गया है। इसलिए हर लोकतान्त्रिक देश में, हरेक पीढ़ी के लिए ऐसी पुस्तक फिर-फिर लिखी जानी चाहिए। हमारे देश में तो अभी तक ऐसी कोई पुस्तक लिखी ही नहीं गई। इसका एक कारण तो यह भी है कि स्वयं लेखकों में ही ऐसा प्रभावशाली वर्ग है जो राजनीतिक शब्दों का दुरुपयोग करता है। वह हरेक परिघटना और स्थिति का अपना कुपाठ करता है, और वही प्रचारित करता है। इसलिए इसमें उसकी रुचि ही नहीं है कि विद्यार्थी किसी शब्द और संस्था को पहले अपने मूल और सम्पूर्ण अर्थ में जाने। जबकि राजनीति विज्ञान की शिक्षा में यह पहली और अपरिहार्य आवश्यकता है कि विद्यार्थी राजनीतिक शब्दों को सही अर्थ में, अच्छे उपकरण की तरह, सधा प्रयोग करना सीख सके। दूसरी है

राजनीतिक संस्थाओं की संरचना और कार्य की पक्की जानकारी कि वे क्या हैं, उनके अंग, उपांग क्या हैं और वे कौन-से काम करते हैं। इन संस्थाओं में केवल राजकीय व राजनीतिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक संस्थाएँ और संगठन आदि भी शामिल हैं। यह सब प्राथमिक विवरण बताना, जानना कितना भी उबाऊ लगे, इसे छोड़कर आगे बढ़ना विद्यार्थी को अन्धकार में ढकेलने के समान है। तीसरा और अन्तिम तत्त्व है राजनीतिक सिद्धान्त, जिसे वयस्क अनुभव के बाद ही ठीक से समझना सम्भव है। इन तीनों से ही राजनीति का व्याकरण बनता है। इसकी व्यवस्थित जानकारी पहले पाए बिना राजनीतिक टीका-टिप्पणी, फिकरे कसना, केवल भीड़-मनोवृत्ति का शगल है। रोचक बनाने के नाम पर पर्चे, पोस्टर और कार्टूनों से पाठ्य-पुस्तक को भर देना एक छिछली आत्म-प्रवंचना है। वह कोई राजनीति का ज्ञान देना कतई नहीं। ठीक उसी तरह जैसे सड़क पर रंग-बिरंगी गालियाँ सीख लेना किसी बच्चे का शिक्षित हो जाना नहीं है।

राजनीतिक सिद्धान्त तो इतना दुरुह, सामान्य अनुभव से दूर का विषय है कि निचली कक्षा के बच्चे तो इसे समझ ही नहीं सकते। स्कूली बच्चों को तो केवल इसका अप्रत्यक्ष संकेत भर कर देना ही उपयुक्त है, ताकि वे इतना जान लें कि सिद्धान्तों को जानने के बाद ही राजनीतिक घटनाओं का मूल्यांकन कर सकना सम्भव होता है। जैसे, चुनावी जीत क्या है? बिना लोकतन्त्र, तानाशाही, तथा इन दोनों के विविध अनुभवों की ठोस जानकारी तथा किसी देश-काल विशेष में विभिन्न राजनीतिक दलों, नेताओं, संस्थाओं की राजनीतिक प्रवृत्तियों आदि की सैद्धान्तिक समझ के किसी चुनावी परिणाम का गम्भीर मूल्यांकन नहीं हो सकता। उसके बिना तो लोग, जब जैसी स्थिति हो, किसी संस्था, घटना, अथवा किसी गोर्बाचेव या वाजपेयी की जीत-हार की भरपूर प्रशंसा या निन्दा करने लगते हैं। यह भीड़-मनोवृत्ति का शगल है, जो चंडूखाने की गप से अधिक मूल्य नहीं रखती। कार्टून आदि प्रायः इसी तात्कालिकता को व्यक्त करते हैं। यह कोई राजनीति शास्त्र का ज्ञान नहीं, बल्कि उल्टा है।

किसी राजनीतिक घटना का मूल्यांकन करने की समझ राजनीतिक सिद्धान्त के ज्ञान से ही मिलती है। वह केवल अखबार पढ़ने, टी.वी. देखने या भाषणबाजी से कभी नहीं मिल सकती। उसे उसी तरह परिश्रम करके ही जाना जा सकता है जैसे इंजीनियरिंग या जीव-विज्ञान जाना जाता है। जैसे रोज लोगों को आते-जाते, व्यवहार करते देखकर शरीर की आन्तरिक संरचना, उसके अन्दर के विविध रोग-व्याधियों, तथा उपचार को नहीं जाना जा सकता; वही बात राजनीतिक जीवन के साथ भी है। राजनीतिक सिद्धान्त, विविध देशों, समाजों के विस्तृत अनुभवों को सुसंगत रूप से बिना जाने राजनीतिक क्षेत्र की समस्याओं की समझ विकसित नहीं हो सकती।

अतः स्कूली स्तर पर पहला और अन्तिम लक्ष्य यही रहना चाहिए कि बच्चे राजनीतिक पदों, शब्दों और संस्थाओं को पहले अपने सही अर्थ में समझें। संविधान,

कानून का मूल अर्थ, अन्य नियमों से उनका भेद; विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की संरचनात्मक रूप-रेखा, उनके कार्य, कानून बनने की विधि; समानता, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय सुरक्षा, लोकप्रिय शासन और स्वशासन आदि की प्राथमिक समझ देना शिक्षण के केन्द्र में होने चाहिए। विद्यार्थी को किसी राजनीतिक शब्द, धारणा और संस्था की यह पकड़ हो जानी चाहिए कि वह है क्या? बच्चे संसद, न्यायालय आदि सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाओं को इस तरह ठीक-ठीक समझें कि दूसरों को भी उसकी पहचान करा सकें। उदाहरणों के साथ कि वे क्या काम करती हैं और क्या नहीं करतीं। यह सब मजाक के विषय नहीं हैं। किसी भी पाठ्य-पुस्तक या पाठ को पढ़कर या दूसरों को पढ़ाकर इसका परीक्षण किया जा सकता है, कि क्या वे इन मूल बिन्दुओं की समझ दे सकीं या नहीं। इस बुनियादी प्रश्न का इससे कोई सम्बन्ध ही नहीं है, कि कार्टूनों का क्या महत्त्व है, या कि डॉ. आम्बेडकर कितने महान थे।

उत्तर छायावादी गीत परम्परा और बच्चन

रामनिरंजन परिमलेन्दु*

महाकवि बच्चन नहीं, श्री बच्चन नहीं, बच्चन जी भी नहीं मात्र बच्चन क्योंकि बच्चन हरिवंश राय का घरेलू नाम था। 19 फरवरी, 1960 को बच्चन ने मुझे स्वयं लिखा था

“मेरा घरेलू नाम महाकवि के भार को नहीं उठा सकता। उसके आगे-पीछे ‘श्री’ और ‘जी’ भी नहीं सोहते। मेरे नाम के साथ अन्याय करनेवालों का भगवान भला करें।”

28 अगस्त, 57 के पत्र में भी उन्होंने मुझे लिखा था “जो महाकवि लिखता है, मैं समझता हूँ वह मुझ पर व्यंग्य करता है मैंने कौन-सा पाप किया है कि मुझ पर व्यंग्य किया जाए?”

इसके पूर्व 2 सितम्बर, 1957 के पत्र में भी उन्होंने मुझे लिखा था “आप मुझे महाकवि समझें आपको अधिकार है पर मुझे महाकवि कहने में आपको मेरी भावनाओं का ध्यान रखना चाहिए। मुझे यह बुरा लगता है।”

बच्चन नहीं चाहते थे कि उनके साहित्य पर डॉक्टरेट उपाधि हेतु शोध कार्य हो। 1968 में किसी अनुसन्धाता ने उनके काव्य पर शोध कार्य कर पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की थी। मैंने उन्हें जब यह सूचना दी तो यह जानकर वे उदास हो गए थे। अपने ऊपर लिखा जाना वे बहुत पसन्द नहीं करते थे। 12 जून, 57 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में उन्होंने कहा था

“मेरे ऊपर दूसरों के लिखने का समय अभी नहीं आया। अभी तो मैं ही अपने ऊपर लिख रहा हूँ। उसका उचित समय तब होगा, यदि होगा भी तो, जब मेरे हाथ से मेरी लेखनी छूट पड़ेगी।”

आज बच्चन नहीं हैं, उनके हाथ से लेखनी सदा के लिए छूट गई है। अतएव उन पर कुछ कहूँगा।

* डॉ. रामनिरंजन परिमलेन्दु, पूर्व युनिवर्सिटी प्रोफेसर (हिन्दी) बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर; सम्पर्क : दक्षिण दरवाजा, गया 823001 (बिहार); मो. 09470853118

उत्तर छायावादी गीत-परम्परा में अनेक कवि हुए। उनके नाम गिनाना मेरा यहाँ उद्देश्य नहीं है। उनमें अधिकतर ऐसे भी हुए जो विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो गए। किन्तु इस परम्परा में सर्वाधिक लोकप्रिय, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि बच्चन ही हुएगीतों के राजकुमार ही नहीं, गीतों के युवराज भी और वे कालान्तर में गीतों के सम्राट भी बन गए। जनता ने उन्हें गीतों का सम्राट घोषित किया। वे जनता के हृदय-सम्राट थे।

21 जनवरी, 59 के पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था “मेरा ऐसा ख्याल है कि छायावादी अपनी व्यक्तिगत वेदना को ही परमात्मा के विरह की पीर बनाकर कहते थे जैसे रीतिकाल के कवि अपनी वासना को राधाकृष्ण पर आरोपित कर सकते थे। समाज और युग ने व्यक्ति को अपना सुख-दुःख, अपनी आस-प्यास-वासना कहने की हिम्मत न दी थी। इसी से मैं छायावाद की आध्यात्मिक वेदना को नकली मानता हूँ।”

छायावाद की नकली आध्यात्मिक वेदना के दौर के बाद हिन्दी काव्य-गगन में बच्चन का उदय हुआ। खैयाम का अनुवाद करने के पहले भी बच्चन कविताएँ करते थे। ये कविताएँ ‘आरम्भिक रचनाएँ’ (भाग-1 और 2) में हैं।

कविताएँ करने के पूर्व बच्चन को कविता पढ़ने की आदत भी थी। मोहनलाल महतो वियोगी के *निर्माल्य* और *एकतारा* काव्य-पुस्तकों का अध्ययन भी उन्होंने किया था। *मधुशाला* की रचना-प्रक्रिया में *निर्माल्य* और *एकतारा* की मधु सम्बन्धी पंक्तियाँ भी उनके अवचेतन में थीं। इसके अतिरिक्त, भारतेन्दु, बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवती चरण वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी आदि ने भी मृत्यु पर बहुत कुछ लिखे थे जिनसे वे सुपरिचित थे। उर्दू का नब्बे प्रतिशत काव्य इश्किया शायरी ही है जिससे वे सुपरिचित थे। इन सबका प्रभाव *मधुशाला* की रचना-धारा पर ज्ञात और अज्ञात रूप से पड़ा था। 8 मई, 1961 को लिखित अपने एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था

“कविता लिखना आरम्भ करने के पूर्व ही मुझे कविता पढ़ने की लत लग गई थी। मैंने वियोगी जी की उस समय प्राप्त समस्त रचनाएँ पढ़ी ही नहीं थी, खरीदी भी थी, तभी की खरीदी शायद *निर्माल्य* और *एकतारा* अब भी मेरे पुस्तकालय में है। *मधुशाला* लिखते समय *निर्माल्य* की मधु सम्बन्धी पंक्तियाँ मेरे अवचेतन में रही हों तो कोई आश्चर्य नहीं। मृत्यु पर लिखे और बहुत-से भी मैं परिचित था। हिन्दी में भी मेरे पूर्व ये प्रतीक भारतेन्दु, नवीन, भगवतीचरण वर्मा, पन्त, महादेवी जी द्वारा प्रयुक्त हो चुके थे। उर्दू का तो 90 प्रतिशत काव्य ही इससे भरा है और उससे भी मेरा परिचय था। मनुष्य अपने पूर्वजों का कितना ऋणी होता है। उन सब का मेरा मधु सम्बन्धी रचनाओं में योग होगा।”

29 फरवरी, 1960 को मुझे लिखित एक पत्र में बच्चन ने स्वीकार किया था “खैयाम ने मेरे आगे खारूप, रंग, रस की एक नई दुनिया। साथ ही देश-काल की अनन्तता के समक्ष मानव की अल्पता का भी बोध कराया। उनकी कविता से मेरी भावप्रवणता जगी और सचेत हुई।”

बच्चन द्वारा खैयाम के अनुवाद करने के पश्चात् *मधुशाला* की रचना हुई। यह बच्चन की सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है। *मधुशाला* सर्वप्रथम 1935 में प्रकाशित हुई थी। 27 अगस्त, 1933 को इसकी पहली भूमिका बच्चन ने लिखी थी। उस समय तक *रुबाइयात उमर खैयाम* की समता पर *मधुशाला* में 75 रूबाइयाँ थीं। दिसम्बर 1933 तक, जब इनमें से कुछ *सरस्वती* में प्रकाशित हुई, इनकी संख्या 108 तक हो गई और मार्च 1934 में संग्रह-रूप में प्रकाशनार्थ अभ्युदय प्रेस, इलाहाबाद में दी गई तो यह अपने वर्तमान स्वरूप में अवतरित हुई। अभ्युदय प्रेस से इसका प्रकाशन नहीं हो सका, क्योंकि मुद्रण-व्यय की क्षमता कवि को नहीं थी। बच्चन ने इसके पुस्तकाकार प्रकाशन के पूर्व पहली बार दिसम्बर 1933 में शिवाजी हाल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में *मधुशाला* का पाठ किया था प्रोफेसर मनोरंजन प्रसाद सिन्हा के सभापतित्व में आयोजित कवि-सम्मेलन में। *मधुशाला* के ग्यारहवें संस्करण की भूमिका में बच्चन ने लिखा था कि लगभग एक लाख लोग उसे पढ़ चुके होंगे। हिन्दू पाकेट बुक्स की 100वीं पुस्तक के रूप में बच्चन की *मधुशाला* का प्रकाशन 1962 में हुआ था, जिसके टाइटिल पेज पर यह वाक्य अभिलेखबद्ध था “मधुशाला की अब तक एक लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं।”

बच्चन ने *मधुशाला* की चौथी रूबाई में स्वयं कहा था

कभी न कण-भर खाली होगा,
लाख पिएँ, दो लाख पिएँ!

बच्चन ने स्वयं कहा है “*मधुशाला* की लोकप्रियता मेरे लिए भी एक समस्या है। मैं उसे हजारों की सभा में सैकड़ों बार सुना चुका हूँ, पर आज भी जब कविता सुनाने को खड़ा होता हूँ, तो एक स्वर में जनता *मधुशाला* की माँग करती है। मेरी पुस्तकों में वह *मधुशाला* ही सबसे अधिक पढ़ती भी है।” (*मधुशाला* : हिन्दू पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, 1962 ई., परिशिष्ट, पृ. 83)

शराब जैसे-जैसे पुरानी पड़ती है, वैसे-वैसे उसका नशा तीव्रतर होता जाता है। इसलिए, बच्चन ने एक रूबाई लिखी

बहुतों के सिर चार दिनों तक
चढ़कर उतर गई हाला,
बहुतों के हाथों में दो दिन
छलक-झलक रीता प्याला,

पर बढ़ती तासीर सुरा की
साथ समय के, इससे ही
और पुरानी होकर मेरी
और नशीली मधुशाला।

मधुशाला के परिशिष्ट में एक वक्तव्य में बच्चन ने कहा था

“मधुशाला के बहुत-से पाठक और श्रोता एक समय समझा करते थे, कुछ शायद अब भी समझते हैं कि इसका लेखक दिन-रात मदिरा के नशे में चूर रहता है। वास्तविकता यह है कि ‘मदिरा नामधारी द्रव’ से मेरा परिचय अक्षरशः बरायनाम है। नशे से इनकार नहीं करूँगा। जिन्दगी ही एक नशा है। कविता भी एक नशा है। और भी बहुत-से नशे हैं।”

अपने काव्य-प्रेमियों के भ्रम निवारणार्थ बच्चन ने कभी एक रूबाई लिखी थी

स्वयं नहीं पीता, औरों को,
किन्तु पिला देता हाला,
स्वयं नहीं छूता, औरों को,
पर पकड़ा देता प्याला,
पर उपदेश कुशल बहुतेरों
से मैंने यह सीखा है,
स्वयं नहीं जाता, औरों को
पहुँचा देता मधुशाला।

इसके बावजूद प्रश्नों की बौछार बच्चन झेलते रहे : आप पीते नहीं तो आपको मदिरा पर लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है?

बच्चन कायस्थ कुलोद्भव थे, जो पीने के लिए प्रसिद्ध था। किन्तु वे अमोढ़ा के कायस्थ थे जिनके यहाँ किंवदन्ती थी कि यदि कोई मदिरा का सेवन करेगा तो उसे कुष्ठ हो जाएगा। और उनके एक वंशज ने मदिरा पर मधुशाला की रचना कर डाली, मदिरा की इतनी ‘वकालत’ की

मैं कायस्थ कुलोद्भव, मेरे
पुरखों ने इतना ढाला,
मेरे तन के लोहू में है
पचहत्तर प्रतिशत हाला,
पुश्तैनी अधिकार मुझे है
मदिरालय के आँगन पर
मेरे दादों-परदादों के
हाथ बिकी थी मधुशाला।

मधुशाला की विलक्षण और अभूतपूर्व लोकप्रियता आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में एक अविस्मरणीय महान ऐतिहासिक घटना ही है। विद्यापति और तुलसी के बाद बच्चन की मधुशाला ही सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। मैं तुलना नहीं कर रहा, उदाहरण दे रहा हूँ। सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार, मधुशाला की मादकता अक्षय है।

पुनः कहूँगा, दिसम्बर 1933 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित कवि सम्मेलन में जब मधुशाला का प्रथम सार्वजनिक पाठ हुआ था, तब से आज तक इसकी लोकप्रियता में कभी कमी नहीं हुई। उक्त कवि सम्मेलन के सभापति मनोरंजन जी के अनुसार,

“दिन बच्चन का ही था। मस्ती के साथ झूम-झूमकर जब उसने अपने सुललित कण्ठ से मधुशाला को सस्वर सुनाना शुरू किया तो सभी श्रोता झूम उठे। नवयुवक विद्यार्थी ही नहीं, बड़े-बूढ़े भी झूम उठे। स्वयं मेरे ऊपर भी उसका नशा छा गया था।...बस, स्वरलहरी में लहराना, मद की मस्ती में झूमना और हर चौथी पंक्ति के अन्त में जब मधुशाला का उच्चारण हो तो बरबस गायक के साथ स्वयं भी आवृत्ति करना; और यह बात प्रायः प्रत्येक श्रोता के साथ थी।

...शाम को सम्मेलन समाप्त हुआ और रात-भर मैं उसी धुन में रहासुबह तक खुमारी रही।

...उस शाम बच्चन को सुनकर नवयुवक पागल हो रहे थे। पागल मैं भी हो रहा था...दूसरे दिन के कवि-सम्मेलन में जो केवल मधुशाला का सम्मेलन था बच्चन का और मेरा सम्मेलन था मधुशाला का सर्वप्रथम कवि-सम्मेलनकेवल मधुशाला का।

...बात ऐसी हुई कि पहले दिन बच्चन ने जब मधुशाला सुनाई थी तब सम्मेलन में उतने विद्यार्थी न थे। जब उसकी शोहरत फैली और अनेकानेक कण्ठों से छात्रावासों में तथा इधर-उधर मधुशाला की मादक पंक्तियाँ निकलने लगींहावा में थिकरने लगींतो जिन लोगों ने न सुना था वे भी पागल हो गएजिन लोगों ने सुना था वे तो पागल थे ही बस, सभी का आग्रह हुआ कि एक बार फिर बच्चन जी का कविता पाठ होकेवल बच्चन जी काकेवल मधुशाला का।

...बच्चन जी ने कविता-पाठ शुरू किया। लड़के झूमने लगे।...सभी आत्मविभोर से थे, किन्तु आखिर इंटरवल की आवश्यकता हुई ही, और तब मैंने अपनी चीज पेश की जो शराब के साथ के ‘चिखने’ के समान थीमहज जायका बदलने के लिए। लोगों का काफी मनोरंजन हुआ।”

मनोरंजन जी बच्चन के प्रथम पैरोडिस्ट थे। उनकी कविता-पुस्तक ‘गुनगुन’ का प्रकाशन 1937 में हुआ। उसमें उन्होंने ‘मधुगीत’ शीर्षक की मधुशाला की पैरोडी में आठ रूबाइयाँ दी थीं और उस कविता-पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा था—“प्रयाग के प्रतिभाशाली कवि श्रीयुत बच्चन जी ने हिन्दी में मधुशाला की रचना करके एक नई

धारा बहाई है, जो हमारे साहित्य के लिए ही नहीं, बल्कि हमारी इधर की संस्कृति के लिए भी बिलकुल नई है।”

मासिक पत्र *विश्वामित्र*, मई 1936, में मनोरंजन जी ने *मधुशाला* की विडम्बना का प्रकाशन कराया था और तुलनात्मक विवेचना के लिए बच्चन की कविता भी साथ में दे दी थी। यह तथ्य भी *मधुशाला* की लोकप्रियता का प्रमाण है।

किन्तु *मधुशाला* की लोकप्रियता का रहस्य क्या है? *मधुशाला* सर्वाधिक लोकप्रिय क्यों है? यह प्रश्न मैंने *मधुशाला* के रचयिता से ही किया था। 20 दिसम्बर, 1957 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने कहा था “किसी कृति की लोकप्रियता यदि स्थायी हो तो उसके पीछे जीवन की किसी बड़ी सच्चाई को विश्वास किया जाना चाहिए। जीवन की सच्चाई का आधार पाए बिना कृति बिलकुल लँगड़ी है।”

किन्तु कविता का अन्तिम सत्य क्या है? जनस्वीकृति? या समय-स्वीकृति? मैं जनस्वीकृति को कविता का अन्तिम सत्य नहीं मानता। सिनेमा के कुछ पुराने गीतों को जनस्वीकृति मिल गई। किन्तु इसे मैं कविता का अन्तिम सत्य नहीं मान सकता। बच्चन से इस विषय पर मेरा विमर्श हुआ था। 19 अगस्त, 1958 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था “कविता के अन्तिम सत्य के लिए अगर जनस्वीकृति पर्याप्त न हो तो मैं समय स्वीकृति भी जोड़ देना चाहूँगा।”

5 फरवरी, 1959 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था

“मैं *मधुशाला* या अपनी किसी रचना की आलोचना पर नाराज नहीं होता। अपनी रचनाओं के प्रति निष्पक्ष होना मेरे लिए सम्भव नहीं। मेरी प्रत्याशा से बहुत अधिक लोगों ने उनसे कुछ रस-आनन्द पाया है।”

उक्त पत्र में बच्चन ने मुझे पुनः लिखा

“जो *मधुशाला* को शराब की व्याख्या भर समझेगा वह मुझे समझने में गलती कर रहा है। मैं किसी का विरोध नहीं करता...सबको अधिकार है अपनी कहो, मुझे अपनी कहने से न रोको। रोकनेवाले हैं मेरे श्रोता-पाठक। वे जिस दिन मुझसे मुँह फेर देंगेकान बन्द कर लेंगे उस दिन भी मुझे अपने लिए लिखने का अधिकार तो होगा।”

मुझे सम्बोधित 20 फरवरी, 1959 के पत्र में बच्चन ने लिखा था

“*मधुशाला* के लेखक ने शराब नहीं पी। ग्यारहवें संस्करण की भूमिका में कुछ ऐसे आरोपों के उत्तर में जो बात मुक्त जी ने श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी से की थी, उसका उल्लेख है। *मधुशाला* से पहले भी शराब पर बहुत लिखा जा चुका है। यदि उस सबको शराब का प्रचार करने का उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते तो बेचारी *मधुशाला* को क्यों दोष देंगे। जो शराब पीना चाहते हैं उन्हें *मधुशाला* की आड़ लेने की जरूरत नहीं। पीनेवाले ऐसे हैं जो खूब पीते हैं *मधुशाला* की छाया भी उनके पास नहीं पहुँची। *मधुशाला* प्रतीक हैजीवन, यौवन, प्यार, प्रीत, शृंगार, स्वप्न, सत्य, आशा, आकांक्षा,

निराशा, संघर्षअर्थात् उन सब चीजों को जो मानव-मन को मथती-विचलित करती है, जिसकी जैसी रुचि थी उसने वैसी देखी *मधुशाला*। मैं फिर कहूँगा कि जिसने *मधुशाला* में केवल शराब देखी है, उसने न कभी कविता समझी है, न कभी कवि को। भगवान से मैं तो उसी की प्रार्थना कर सकता हूँ कि मेरी पुस्तक अनधिकारियों के हाथों में न पड़े।”

हस्ताक्षर के बाद लाल स्याही से बच्चन ने मुझे उसी पत्र के अन्त में लिखा था “स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने एक बार मुझे कहा था कि तुम्हारी *मधुशाला* में मुझे ‘शराब’ नहीं मिली।”

मधुशाला मदिरा का प्रचार है। इस प्रकार की अनेक गलत भ्रान्तियाँ एक लम्बे अर्से से प्रचलित रही हैं। मैंने बच्चन का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हुए 1957 में कहा था कि आप इन भ्रान्तियों का खण्डन क्यों नहीं करते। किन्तु उन्होंने कहा कि “मेरे पास सीमित समय-शक्ति है। मूर्खताओं का उत्तर दूँ या किसी रचनात्मक कार्य में लगाऊँ।” 10 अक्टूबर, 1957 को उन्होंने मुझे पत्र लिखा

“*मधुशाला* में जितनी सामाजिक चेतना मैं आत्मसात कर सका हूँ शायद उसका प्रतिबिम्ब है।”

किन्तु *मधुशाला* लिखने की एक उम्र होती है। इसीलिए, 11 सितम्बर, 1957 के एक पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा “मैंने कब कहा कि आप *मधुशाला* दें। *मधुशाला* न आप दे सकते हैं मैं दे सकता हूँ।”

उमर खैयाम बच्चन से कभी भी अलग नहीं हो सका। उनके चेतन ही नहीं, अवचेतन में उमर खैयाम कहीं-न-कहीं अवश्य उपस्थित रहा है। इस तथ्य पर बच्चन की भी सहमति रही है। 5 फरवरी, 1959 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने स्वीकार किया था कि “गुजरने को तो मैं *बुद्ध और नाचघर* की स्थिति से भी गुजर चुका हूँ। पर उमर खैयाम भी कहीं मेरे अवचेतन में अभी भी है और शायद कभी भी सर्वथा बाहर न हो सकेगा। बाहरी और सतही बातों को छोड़ दें तो उमर खैयाम की कविता ने मुझे नियति, प्रवृत्ति, संस्कृति की महानता, आकर्षण और भयंकरता के समक्ष अकेला पाकर खड़ा कर दिया। उस अनुभूति से अब भी काँप उठता हूँमनुष्य एक स्थान पर सर्वथा अकेला है।”

उत्तर छायावादी गीत परम्परा में बच्चन के गीतों की स्पष्टता और पारदर्शिता विलक्षण ही है। 2 सितम्बर, 1957 को एक पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था

“कविता की स्पष्टता कवि के जीवन और भावों की स्पष्टता से आती है। जो स्वयं अस्पष्ट है उसकी कविता स्पष्ट नहीं हो सकती।”

इसीलिए, बच्चन ने कभी भी *तारसप्तक* को महत्त्व नहीं दिया। 28 अगस्त, 1957 के एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था

“तारसप्तक वह बच्चा है जो अपनी माँ के पेट से मरा हुआ पैदा हुआ था। अज्ञेय जी अपने जीवन भर उसमें साँसें डालने के लिए उस पर उचके लगाते रहे हैं। उनकी कोई देन नहीं है और है भी तो कोई ऐसी नहीं जो और तरफ से भी नहीं आई। अज्ञेय जी ने साहित्यकारों के दल में नेता बनने के लिए उसे झंडे की तरह उपयोग किया है।”

मेरे नाम से सम्बोधित 11 सितम्बर, 1957 के एक पत्र में बच्चन ने कहा था कि *तारसप्तक* जब प्रकाशित हुआ था, मैंने उसे पढ़कर कूड़े की टोकरी में डाल दिया था। मेरे काम का वह नहीं था। हो सकता है दूसरों के काम का हो।

यह सत्य है कि दर्शन की परिधि इतनी व्यापक है कि उससे बचना किसी के लिए सम्भव नहीं। किन्तु किसी प्रकार के दर्शन से बँधकर या किसी दार्शनिक विचारधारा के प्रचार हेतु *मधुशाला* की रचना नहीं की गई थी। इसकी रचना जीवन की शाश्वत पिपासा की अभिव्यक्ति के लिए ही कवि ने की थी, कविता लिखने के लिए ही इसकी रचना की गई थी। 11 जुलाई, 1960 को मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने कहा था

“मैंने दर्शन देने के लिए *मधुशाला* नहीं लिखी थी, कविता लिखने के लिए लिखी थी और कविता लिखी थी जीवन की प्यास व्यक्त करने के लिए। इस प्यास को बहुत दिन से दबाया गया था, रोका गया था, इसकी उपेक्षा की गई थी, मुझसे यह नियन्त्रण तिरस्कार सहन नहीं हुआ। *मधुशाला* में फूट पड़ा और स्वाभाविक ही एक Exaggerated Form में। कहावत प्रसिद्ध है ‘थोड़ा कीन्ह रामचन्द्र बहुत कीन्ह कथकन’। *मधुशाला* के पीछे कौन दर्शन हैकौन नहीं हैहै तो उसमें कितनी consistency है कितनी inconsistency यह सब ‘कथकन’ के लिए मैंने छोड़ दिया है। कविता में बहुत कुछ अंश अनजाने का भी होता है। लिखते समय मेरे मन के अनजाने कोनों से कौन-कौन ध्वनियाँ उठी हैं, वे कहाँ से आईं, उनका अर्थ क्या है, यह मैं स्वयं नहीं जानता। इस कारण *मधुशाला* के बारे में कुछ कहनेवालों के प्रति प्रायः उदासीन ही रहा हूँ। शायद इसका प्रतिवाद किए बगैर मुझसे नहीं रहा गया कि *मधुशाला* की मदिरा द्विस्की, ब्रैंडी, रम है। *मधुशाला* प्रतीक है शायद इसे अब सब लोग मान गए हैं।”

मधुशाला का अंग्रेजी अनुवाद *दि हाउस आफ वाइन* के नाम से अनुवादकद्वय कुमारी मार्जरी बोल्टन और रामस्वरूप व्यास ने किया था, जिसकी प्रस्तावना स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखी थी। इसका प्रकाशन 1950 में दि फारचून प्रेस, लन्दन से हुआ था। आधुनिक हिन्दी कविता की यह सबसे पहली पुस्तक थी जिसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ और प्रकाशन लन्दन से हुआ।

बच्चन ने 23 फरवरी, 1960 को मुझे लिखा था

“चूँकि आदर्श और नैतिकता हमारे जीवन में भार और बन्धन स्वरूप ही बन गए हैंसलिए *मधुशाला* में मानव स्वभाव की माँग कुछ अतिशयता से व्यक्त हुई है। *मधुशाला* उपेक्षित मानव स्वभाव के विद्रोह की हुंकार है। वस्तुतः वह संकुचित मनोवृत्ति का काव्य नहीं। कभी किसी वस्तु की ओर अधिक ध्यान आकर्षित करने के लिए उसे बढ़ाकर दिखाया जाता है।”

बच्चन ने कभी एक पत्र में मुझे लिखा था “छायावाद की छत पर पहला गोला *मधुशाला* की मुरेड़ से फेंका गया था।” यह तथ्य *मधुशाला* की श्रेष्ठ उपलब्धि है।

यह सत्य है कि “जब कोई रचना किसी युग-समाज की संश्लिष्ट बनती है तब वह रस के उस उत्स को छू लेती है जो हर युग-समाज के लिए एक ही होता है। मेरा कहना तो ठीक नहीं, पर मुझे लगता है कि *मधुशाला* कुछ इसी प्रकार की रचना अपने को सिद्ध कर रही है नहीं तो 30 वर्ष में युग पर्याप्त बदल चुका है। पाठ्य-पुस्तकों को छोड़ दें तो आज भी साधारण साहित्यिक रुचि से पढ़ी जानेवाली यह सबसे लोकप्रिय रचना है। कारण तो *मधुशाला* में ही खोजना होगा

फिर भी पीनेवालों को है एक पहेली मधुशाला 2 मई 1962 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में ऐसा ही लिखा था। यह सत्य है।

मधुशाला के बाद 1936 में *मधुबाला*, 1937 में *मधुकलश* और नवम्बर 1938 में *निशा निमन्त्रण* का प्रथम प्रकाशन हुआ। *निशा निमन्त्रण* का प्रथम प्रकाशन सुषमा निकुंज, इलाहाबाद से हुआ था। *मधुबाला* और *मधुकलश* में *मधुशाला* की छाया है और उसका उपग्रह भी। नवम्बर 1936 में बच्चन की प्रथम पत्नी देवी श्यामा का निधन लम्बी बीमारी के बाद हो गया था। श्यामा से उनका विवाह 1926 में हुआ जब वे मात्र उन्नीस वर्ष के थे और इण्टरमीडिएट कक्षा के विद्यार्थी थे। उनके प्रथम वैवाहिक जीवन के दस वर्ष बहुत संघर्षपूर्ण और उथल-पुथल के थे। उनके मार्मिक निधन के पश्चात् बच्चन अत्यन्त मर्माहत हुए। उनके निधन के बाद एक वर्ष तक उन्होंने कुछ नहीं लिखा। *निशा निमन्त्रण* का पहला गीत दिसम्बर 1937 में लिखा गया। गीत प्रायः छह महीने में लिखे गए। प्रकाशन-क्रम में नहीं, पहला गीत था ‘आओ सो जाएँ मर जाएँ’।

निशा निमन्त्रण के गीतों के पहले ड्राफ्ट में प्रत्येक गीत का रचना समय और स्थान का उल्लेख हुआ था। वह ड्राफ्ट बच्चन के कागजात में ही रह गया, जिसका अवलोकन करने का सौभाग्य अब तक किसी भी अनुसन्धाता को नहीं हो सका। उक्त फर्स्ट ड्राफ्ट का अविकल प्रकाशन होना चाहिए। एतदर्थ, मेगास्टार अमिताभ बच्चन से आग्रह किया जाए।

निशा निमन्त्रण के गीतों में, ‘साथी’ की परिकल्पना की गई है। इस सम्बन्ध में 12 मार्च, 1960 को मुझे लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने कहा था “एक और मुझ-सा ही समय का मारा दिख गया था। उसने ‘साथी’ की कामना करने की

प्रेरणा दी 'आओ सो जाएँ' जैसे उसी साथी को सम्बोधन करके लिखा। साथी का अर्थ बदलता गया। कुछ गीतों में साथी से मेरा तात्पर्य अपने दिवंगत जीवन-साथी से ही है साथी सो न, कर कुछ बात।”

‘बात करते सो गया तू’ सो गया, मतलब मर गया।

पूर्ण कर दे वह कहानी-जीवन की, जो तू कह रहा थाजी रहा थावह कहानी कहते-कहते तू सो गया। मैं उस कहानी को हर रात दुहराता हूँ। यहाँ तक आता हूँ तो तू सो जाता हैकौन बताए आगे क्या हुआ?...आदि जिसका हर निशा में, अन्त चिर अज्ञात।”

किन्तु *निशा निमन्त्रण* के अनेक गीतों का तथाकथित ‘साथी’ कौन था? उसका नाम-पता? जिज्ञासावश मैंने *निशा निमन्त्रण* के कवि से पूछा था। *निशा निमन्त्रण* का नामकरण कैसे हुआ? उसके नामकरण का इतिहास और उसके विभिन्न गीतों की रचना-प्रक्रिया जानने की मेरी प्रबल इच्छा रही है। मेरी इस जिज्ञासा और इच्छा के सन्दर्भ में बच्चन ने 3 अप्रैल, 1960 को मुझे एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा था

“साथी के नाम-पते से किसी को कोई लाभ न होगा। उसमें जो मैंने देखा वह कोई दूसरा न देख सकेगा। उससे जो प्रेरणा ली जा सकती थी वह मैंने ले ली और वह *निशा निमन्त्रण* के गीतों में है। आखिरी गीतों में मैंने उससे विदा ले ली “जाओ कल्पित साथी मन के।

“अपने वेदनापूर्ण दिनों में मुझे रात को नींद न आती थी, पर रात को जो शान्ति छाती थी उसमें ऐसा लगता था कि जैसे कोई घावों को सहला रहा है, उसी में गीत फूटने से लगते थे। उसी में वेदना कला बनती थी। निशा जैसे निमन्त्रित करती थीमेरे पास आओ, अपना दुःख सुनाओमैं सुनूंगी। दिन को ऐसी फुरसत कहाँ। कुछ इन्हीं भावों से इन गीतों को मैंने *निशा निमन्त्रण* कहा। और कोई प्रसंग तो याद नहीं। शायद बहुत से गीतों को बिना संग्रह का नाम सोचे लिखा। संग्रह का विचार आया होगा तो नाम सूझा होगा। पाण्डुलिपियों में शायद कोई संकेत हो। फिर भी यह सब सतही बातें हैं। मुख्य बात है कि गीतों से कैसी प्रतिक्रिया लोगों के मन में होती है।”

पुनः 26 अप्रैल, 1960 के व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा

“ ‘साथी’ ने केवल मुँह खोलने की प्रेरणा दी। मैं जो उसमें देख रहा था उसको शायद ही उसका पता हो। इसी कारण उसे मैंने ‘कल्पित’ कहा। मैंने उस पर अपनी भावनाओं का आरोप कर दिया था कि वह स्थूल objective कहाँ रह गया था? कल्पित तो हो ही गया था और उसकी ध्वनि से मैंने एक और अर्थ suggest किया था। पहले आप अनुमान करें। फिर मैं बताऊँगा।”

पुनः 17 मई, 1960 को बच्चन ने मुझे लिखा “साथी वह भी है जिसे मैंने अपने दुःख के गीत सुनाए। साथी वह भी है जिसके दुःख से मैंने गीत सुनाए और मेरे दुःख का कारण केवल साथी ही नहीं है कुछ और भी है।”

10 अक्टूबर, 1957 को बच्चन ने मुझे लिखा “व्यक्ति का संघर्ष भी युग के संघर्ष का एक पक्ष होता है।...युग को व्यापक दृष्टि से देखेंगे तो उसमें *निशा निमन्त्रण* के लिए शायद स्थान दिखाई पड़े।”

25 फरवरी, 1960 को लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा

“*निशा निमन्त्रण* व्यक्ति का अज्ञात के आघात से उठने का काव्य हैरोकर, गाकर, श्रम कर, साहस कर। निशा निमन्त्रण निराशावाद के साथ संघर्ष है। आशावादी होना मानव का स्वभाव है।”

इसीलिए, बच्चन ने *निशा निमन्त्रण* के बाद कहा था

“है अँधेरी रात तो दिवा जलाना कब मना है?”

1 मार्च, 1960 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में स्वीकार किया था

“समष्टि के आन्दोलन ने व्यक्ति को इतना नहीं समेटा था कि वह अपने निजी घावों को भूल जाए। कभी समाज की त्रुटियों पर भी ध्यान देना चाहिए। समाज आज भी इतना विकसित नहीं कि व्यक्ति अपनी समस्याओं को बिलकुल भूल जाए। और पूर्ण विकसित समाज में भी व्यक्ति की इकाई लुप्त न हो सकेगी या न होनी चाहिए। बूँद-बूँद से समुद्र बनता है, पर मानव के सन्दर्भ में कभी बूँद को समुद्र से बड़ा भी मानना होगा। किसी-किसी अवस्था में समुद्र से अलग भी। बूँद हूँ, समुद्र में मिलकर अपनी विशालता का अनुभव करना स्वस्थ समझता हूँ। पर समुद्र मुझे खाना चाहेगा तो विद्रोह करूँगा। व्यक्ति का सम्बन्ध केवल समष्टि के सम्बन्ध तक सीमित नहीं है। उसकी एक दिशा (Dimension) देश-काल की परिधि की पकड़ से बाहर भी है।”

निशा निमन्त्रण की रचना की सार्थकता के बीज उपर्युक्त पंक्तियों के आस-पास ही है। कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं।

बच्चन से मैंने 1957 में एक क्रूर प्रश्न किया थाजब देश जल रहा था, उस वक्त क्या *निशा निमन्त्रण* उचित था? 28 अगस्त, 1957 के अपने व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा

“जब देश जल रहा था उस वक्त क्या *निशा निमन्त्रण* उचित था? इसके जवाब में मुझे यह कहना है कि कविता लिखते समय मैं इस बात का विचार नहीं करता कि वह लिखना उचित है कि नहीं। मैं केवल देखता हूँ, मैं जो लिख रहा हूँ वह बलपूर्वक उतर रहा है कि नहीं। जो मेरे दिल को फाड़कर निकल रहा है यदि वह उचित नहीं है तो संसार में कुछ भी उचित नहीं है।”

निशा निमन्त्रण बच्चन की प्रथम पत्नी देवी श्यामा के मार्मिक और असामयिक दुःखद निधन की पीड़ा से उत्पन्न एक बहुमूल्य कृति है। यह कवि के जीवन के दुःखद

मोड़ की रचना है। इसीलिए, बच्चन ने 16 अप्रैल, 59 को मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में कहा था

“जीवन के मोड़ से जो मोड़ कविता में आएगा, वही सच्चा मोड़ होगाबाकी तोड़-मरोड़, मोड़ नहीं। जीवन की धारा ही कला की धारा बनती है।”

मैंने *निशा निमन्त्रण* के गीत-संसार को कभी निशा निमन्त्रणवाद कहा था। इस शब्द की गहराई तक बच्चन नहीं जा सके और *निशा निमन्त्रण* की सरल व्याख्या मेरे नाम लिखित 26 दिसम्बर, 1960 के पत्र में इस प्रकार कर दी

“पता नहीं निशा निमन्त्रणवाद से आपका तात्पर्य क्या है? जीवन में दुःख आते हैंदुःख की प्रतिक्रिया होती हैमैं तो इतना ही जानता हूँ। यही है निशा निमन्त्रण।”

1938 में *निशा निमन्त्रण* का प्रथम प्रकाशन हुआ। इसके अनुकरण पर अनेक नवयुवक कवि बन गएइसके गीतों के अनुकरण पर अत्यधिक गीत लिखे गए। नवयुवकों, छात्र-कवियों को इसने सर्वाधिक प्रेरित-प्रभावित किया। मैं स्वयं 1950 के आस-पास इसके गीत अपने छात्रावस्था में अक्सर गुनगुनाया करता था। मेरे एक सम्बन्धी थे। 1942 के आस-पास वे *निशा निमन्त्रण* के शिल्प और भाव का अन्धानुकरण कर गीत लिखने में प्रवीण हो गए थे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं।

एकान्त संगीत 1939, *आकुल अन्तर* 1943, *सतरंगिनी* 1945, *मिलनयामिनी* 1950 और *प्रणय पत्रिका* का प्रकाशन 1955 में हुआ। इन सबमें एक ही धारा हैवह धारा बच्चन की है, मात्र बच्चन की। *बंगाल का काल* और *हलाहल* 1946, *खादी के फूल* और *सूत की माला* का प्रकाशन 1948 में हुआ। ये चार काव्य-पुस्तकें *मधुशाला* और *प्रणय पत्रिका* की परम्परा से अलग हटकर हैं। यह सत्य है कि 1943 में *प्रारम्भिक रचनाएँ* (दो भाग और तीसरा भाग 1946) का प्रकाशन हुआ था। किन्तु दो भागों के इस संकलन में बच्चन के कवि-रूप के बीज मात्र हैं, उनमें प्रौढ़ता का अभाव है। 1957 में धार के इधर-उधर से बच्चन की भाव-धारा में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। तत्पश्चात् *बुद्ध और नाचघर* (1958), *आरती और अंगारे* (1958) और *त्रिभंगिमा* (1961) आदि *धार के इधर-उधर* के आगे की कड़ियाँ हैं।

10 अप्रैल, 1958 को मुझे सम्बोधित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने कहा

“मेरी कविता जीवन के साथ संघर्ष करनेवालों की कविता है, क्योंकि मैं जीवन में संघर्षशील व्यक्ति हूँ। मेरे पाठक मुझे ऐसा ही जानते हैं। जो मुझे ऐसा नहीं जानते वे मुझे नहीं जानते।”

एक बार दशहरे के सुअवसर पर मुझे शुभकामनाएँ प्रदान करते हुए बच्चन ने 24 सितम्बर, 1960 को मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में कहा था“दशहरा आपको भी मंगलमय हो। दशहरा मात्र ही मेरी कविता का विषय है। दो शक्तियों का संघर्ष। संघर्ष को मेरी कविता ओर मेरे जीवन से निकाल देने पर 0 (शून्य) ही बचा रहेगा।”

और भी, “मैंने कब कहा कि मैं जिन्दगी का आखिरी सत्य देने आया हूँ। मैं जिन्दगी का यदि एक सत्य भी दे सकूँ तो अपने को धन्य समझूँगा।” 10 अप्रैल, 1958 को बच्चन ने मुझे ऐसा ही लिखा था।

बच्चन और सुमित्रानन्दन पन्त अभिन्न मित्र थे। किन्तु बच्चन में पन्त के विपरीत प्रकृति-चित्रण के प्रति विरक्ति ही थी। इसीलिए, 6 जनवरी, 1959 को बच्चन ने मुझे लिखा“मुझे मनुष्य प्रकृति से अधिक प्रिय है।”

“प्रकृति को रंगमंच की पीठिका मात्र मान सकता हूँअभिनेत्री नहीं। पन्त जी का प्रेमी हूँ। प्रकृति का प्रेमी नहीं बन सका”24 सितम्बर, 1960 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक पत्र में यह कहा था।

व्यक्ति और समाज अलग-अलग नहींदोनों एक-दूसरे के अविच्छिन्न अंग हैं। 6 जनवरी, 1959 को बच्चन ने मुझे लिखा“व्यक्ति और समाज को मैं अलग करके नहीं देखता। हो सकता है व्यक्ति अधिक उभरा दिख रहा हो। मेरी अनुभूति की सीमाएँ हैं, जैसे शायद सबकी होती हैं।”

मनुष्य का दुःख-दर्द, आशा-निराशा और पिपासा उसकी तृष्णा और वासना के गीत बच्चन के गीत हैं। उनमें रहस्यवादियों की तथाकथित वेदना नहीं है क्योंकि रहस्यवादियों की वेदना विश्वसनीय नहीं है। 6 जनवरी, 1959 के एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था

“महादेवी जी की वेदना को मैं अवज्ञा की दृष्टि से देखता रहा हूँक्योंकि वह मुझे नकली मालूम होती है। इतनी वेदना में तो उन्हें ‘काशी-करवट’ के लिए चले जाना था। पर वे सांसारिक व्यवहार में पर्याप्त कुशल हैं। रहस्यवादियों की सारी वेदना को मैं सन्देह की दृष्टि से देखता हूँ। इसलिए मैंने मानवी दुःख-दर्द, आशा-निराशा, तृष्णा-वासना को गाना शुरू किया। यह सब मेरी नस-नाड़ी में डोली है।”

बच्चन के गीतों में सच्चाई है। उनकी अनुभूत भावनाएँ हैं जो उनके गीतों में सदैव दीप्तिमान रही हैं। उनके लिए कला की व्याख्या जीवन की व्याख्या है। वे जीवनधारा के कवि हैं। 16 अप्रैल, 59 को उन्होंने मुझे लिखा

“सच्चाई बहुत बड़ी चीज है। ईमानदारी से जो देखी, समझी, सही, कही जाए उसे ही मैं अपने लिए सच्चाई मान लूँगा।

मेरे लिए कला की व्याख्या जीवन की ही व्याख्या है। यानी जिसकी व्याख्या की जानी चाहिए। व्याख्या देने योग्य जीवन ही है, कला का रस लेना चाहिए। कुछ लोग फूलों की सुगन्ध लेने की बजाय उसकी पंखुड़ियों को नोचना शुरू कर देते हैं। वे समझते हैं वे फूल की व्याख्या कर रहे हैं। वैज्ञानिकों की महत्ता स्वीकार करूँगा। उनसे ईर्ष्या नहीं करूँगा।”

बच्चन ने कहा था“प्यार से आगे नहीं कुछ भी कर्म है।” जब मैंने इस कथन पर उनसे वाद-विवाद किया तो उन्होंने 29 दिसम्बर, 59 के पत्र में मुझे लिखा

“प्यार से आगे नहीं कुछ भी कर्म है’ मुझे तो ठीक ही लगता है। प्यार का अर्थ केवल चूमा-चाटी नहीं है।

सारी साहित्यिक हलचलों का अन्तिम ध्येय यदि मनुष्य को मनुष्य के निकट मात्र नहीं है तो मेरे लिए साहित्य निरर्थक है। इसी को मैं ‘प्यार’ समझता हूँ।”

पुनः 12 जनवरी, 1960 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा “प्यार की धारणा मैंने अपने अनुभव के आधार पर बनाई है, किसी से सुन-सीखकर नहीं।”

बच्चन की रचनाओं में अहं का अन्त है, अहं का मिटना और मिटाना है। इस तथ्य की व्याख्या 20 जनवरी, 1960 को मेरे नाम लिखित पत्र में बच्चन ने स्वयं की है

“कविता या कला में अहं को मिटाना यह है कि जो दूसरे या सबके हृदय में ध्वनित हो रहा है वह अपने हृदय में प्रतिध्वनित होने लगे। तब पाठक और कवि के बीच का अन्तर मिट जाता है। कवि कहता है ‘कवि न होऊँ।’ पाठक कहता है कवि ने उसके मुँह से बात छीन ली। यही तो मैं भी कहना चाहता था।”

29 सितम्बर, 1959 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक पत्र में कहा था

“मधुशाला हो या आरती और अंगारे या बुद्ध और नाचघर्ये सब मेरी पिछली भंगिमाएँ हैं। दिग्भ्रम न हो तो अब उनकी ओर लौटना सम्भव नहीं।”

बच्चन ने 26 दिसम्बर, 1960 को मेरे नाम सम्बोधित एक व्यक्तिगत पत्र में कहा था

“मुझे जो कहना थाया जो मैं हूँवह मैंने अपनी रचनाओं में कह दिया है। क्षणवादी और शाश्वतवादी और भोगवादी और त्यागवादीयह मैं साथ-ही-साथ रहा हूँक्योंकि मैं जीवन से स्फुरित रहा हूँ और जीवन वाद नहीं हैवह यह सब है और उससे अधिक भी

हमें जग जीवन से अनुराग

हमें जग जीवन से विद्रोह

उसे क्या समझेंगे वे लोग

जिन्हें सीमा बंधन का मोह।

यह एक सर्वप्रिय कवि की वाणी हैहाँ, बच्चन एक सर्वप्रिय कवि ही थे। मैंने 1965 में उनसे पूछा था कि सर्वपूज्य सन्त, सर्वप्रिय लेखक या चिन्तक या शुद्ध कवि, सर्वसत्ता-प्राप्त राजनीतिक नेता...आप इनमें से कौन-सा होना पसन्द करेंगे? बच्चन ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा थासर्वप्रिय कवि। यही बच्चन की काव्य-साधना का निष्कर्ष है।

1 फरवरी, 1960 को बच्चन ने मुझे पुनः लिखा

“अहं को मिटाकर ही सच्चा व्यक्तित्व प्राप्त होता है।

“प्यार पूजा से ऊँचा है। प्रेम श्रद्धा से। प्रेम की ऊँचाई न पा सके तो श्रद्धा को ही अपनाएँ। अहं को मिटाने में दोनों सहायक होंगे। प्रेम के सब रूप समान हैं।

“कवि जो कहे जब वह दूसरों के हृदयों से प्रतिध्वनित होने लगे तो यह समझें कि इसमें दूसरे हृदयों की ध्वनियाँ सुनी थीं। ऐसी सुनी को सुनाना ही कविता है।”

और यही बच्चन की कविता है, ऐसी सुनी को सुनाने में ही बच्चन सिद्ध-प्रसिद्ध हैं।

26 नवम्बर, 1961 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने कहा था “मैंने अपनी तुकबन्दियों द्वारा कुछ अपरिचितों के हृदय में स्थान प्राप्त किया है, वह मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। मानव हृदय के छोटे-से कोने से बढ़कर स्वर्ग भी नहीं। ‘काव्य’, ‘साहित्य’, ‘अमरता’ जिस हाट के टकसाली सिक्के हैं वहाँ से गुजरते मैं घबड़ाता हूँ। जल्दी ही किसी साँकरी प्रेम गली में घुस गुनगुनाना चाहता हूँ। शायद मेरा स्वर सुनकर कोई अपना दरवाजा खोले, कोई अपने झरोखे से झाँके।”

उत्तर छायावादी गीत-परम्परा में बच्चन का रचना-संसार शरद ऋतु की धूप ही हैवहिर्जीवन और अन्तर्जीवन में जीवन की उष्णता से परिपूर्ण भी। सामान्य जनता से हिन्दी कविता का सीधा सम्बन्ध आधुनिक काल में सर्वप्रथम बच्चन ने ही स्थापित किया। वे उत्तर छायावादी स्वच्छन्द धारा के प्रवर्तक प्रथम प्रमुख कवि हैं जिसने कविता और कवि दोनों का समाजीकरण कर दिया।

12 मार्च, 1960 को बच्चन ने मुझे लिखा था

“खुश रहिए दुःखी बनाया जिसने मुझको सुखी रहे वह मधुशालामतवालों की जिह्वा से हैं कभी निकलते शाप नहीं”

मैं, भी अन्त में यही कहूँगा

दुखी बनाया जिसने मुझको सुखी रहे वह मधुशाला।

मतवालों की जिह्वा से हैं कभी निकलते शाप नहीं।

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली एवं इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद के संयुक्त तत्त्वाधान में इलाहाबाद संग्रहालय के सभागार में 17-18 फरवरी, 2009 को आयोजित हरिवंश राय बच्चन जन्मशतवार्षिकी राष्ट्रीय संगोष्ठी के अवसर पर शनिवार 17 जनवरी, 2009 को पठित आलेख।

प्रसाद के उपन्यासकार का अलक्षित

पुष्पपाल सिंह*

“...क्या और भी किसी देश में इसी प्रकार का धर्म-संचय होता है? जिन्हें आवश्यकता नहीं, उनको बिठाकर आदर से भोजन कराया जाए, केवल इस आशा से कि परलोक में वे पुण्य-संचय का प्रमाण-पत्र देंगे, साक्षी देंगे, और इन्हें, जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है, जिनकी आवश्यकता नंगी होकर वीभत्स नृत्य कर रहीवे मनुष्य, कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।”

साहित्य के इतिहास की एक बड़ी भारी विसंगति यह देखी जा सकती है कि अपनी महती प्रतिभाओं को समुचित महत्त्व देते हुए भी, वह उनके कृतित्व का सर्वांगीण, सर्वपक्षीय, और सम्यक् मूल्यांकन नहीं कर पाता है। कभी किसी साहित्यकार के कुछ रचना-पक्ष इस तरह उभरकर आते हैं कि शेष पक्ष गौण या अनचीन्हे रह जाते हैं, या उनके सामने अपना सही परिप्रेक्ष्य नहीं खोज पाते हैं। जयशंकर प्रसाद के युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व के साथ ही ऐसा ही घटित हुआ कि उनके कवि और नाटककार रूप के सामने उनका कथाकार अपनी पूरी पहचान नहीं करा पाया। उनके कहानीकार को फिर भी महत्त्व दिया गया और रोमाण्टिक भाव-धारा का उनका अलग ही ‘प्रसाद संस्थान’ प्रसाद स्कूल कहानी में आज तक भी चला माना जाता रहा है। निर्मल वर्मा और कृष्णा सोबती तक उनकी वंश-परम्परा बताई जाती रही। यह ओझल-सा हो गया कि जयशंकर प्रसाद के कथाकार के कितने गहरे सामाजिक सरोकार थे। प्रसाद जी की कहानी को तो गम्भीरता से लिया भी गया, किन्तु इनके दोनों उपन्यासों ‘कंकाल’ और ‘तितली’ को (अपूर्ण उपन्यास ‘इरावती’ की तो चर्चा क्या) बड़े चलताऊ ढंग से ‘धार्मिक संस्थाओं पर गहरे प्रहार’ और ‘हिन्दू समाज की विकृतियों और अवैध सन्तानों के यथार्थ को उद्घाटित करने वाला’, ‘कंकाल’ तथा ‘तितली’ को ‘यथार्थ की

* पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला; सम्पर्क : ए केशरबाग, पटियाला (पंजाब)।

पीठिका पर आदर्श की स्थापना’ अथवा प्रेमचन्द की परम्परा का ‘आदर्शपरक’ उपन्यास कहकर कर्तव्य की इतिश्री मान ली गई। वस्तुतः ध्यान से देखा जाए तो प्रसाद की औपन्यासिक चेतना बड़ी गहरी सामाजिक संलग्नता लिए हुए हैं। ‘कंकाल’ जिस तरह से सीधे-सीधे अपने समय के ज्वलन्त प्रश्नों से टकराता है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि विराट सांस्कृतिक चेतना का यह कलाकार केवल अतीतजीवी नहीं था। उन्होंने अतीत को इतिहास की चिरन्तन परम्परा के रूप में ग्रहण कर उसे वर्तमान के लिए प्रासंगिक बनाया था। उनका वर्तमान-बोध संस्कृति और दर्शन की वीथिकथाओं से अपनी रोमानी धज से गुजरता है। उपन्यास में यह छायावादी रोमानी बोध केवल वातावरण और प्रकृति-चित्रण तक ही सीमित रहता है, कथ्य के चयन और निर्वहन में वे पूरी तरह यथार्थ के खुरदरे धरातल पर उतरते हैं अपने समय की प्रायः सभी विकराल समस्याओं से जूझते हुए उनका मौलिक समाधान प्रस्तुत करते हैं, जिसे ‘आदर्श का स्थापन’ कहा गया है। इस रूप में वे उपन्यास अपने समय के कथा-मुहावरे से अलग नहीं हैं। कुछ रूपों में तो प्रसाद ने इन समस्याओं को इस रूप में उठाया है कि आज जिसे मुख्यधारा के साहित्यिक सरोकार कहा जा रहा है, वे पूरे अधुनातन रूप में उनके उपन्यास ‘कंकाल’ में विद्यमान हैं। कुछ वर्षों से साहित्य में ‘दो दुखियारों’ स्त्री और दलितका भरपूर शोर है, प्रसाद ‘कंकाल’ में गहरे जाकर स्त्री-विमर्श में उतरते हैं। वे स्त्री को समाज में अत्यन्त उच्च, समादृत स्थान की अधिकारिणी बताकर ही नहीं रुक जाते हैं अपितु उसे दलितों की पाँत में बिठाकर दोनों के साथ हो रहे सामाजिक अन्याय का प्रतिरोधी स्वर उपस्थित करते हैं “भगवान की भूमि भारत में स्त्रियों पर तथा मनुष्यों को पतित बनाकर बड़ा अन्याय हो रहा है। करोड़ों मनुष्य जलों में अभी पशु-जीवन बिता रहे हैं। स्त्रियाँ विपथ पर जाने के लिए बाध्य की जाती हैं, तुमको उनका पक्ष लेना पड़ेगा। उठो!” उपन्यास में उनके स्वप्नों की संस्था ‘भारत संघ’ का घोषणा-पत्र “श्रेणीवाद, धार्मिक पवित्रतावाद, अभिजात्यवाद इत्यादि अनेक रूपों में फैले हुए सब देशों के भिन्न प्रकारों के जातिवाद का प्रतिरोध करता हुआ”, ‘श्रीराम ने शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया था, श्रीकृष्ण ने दासी-पुत्र विदुर का आतिथ्य ग्रहण किया था, बुद्धदेव ने वेश्या के निमन्त्रण की रक्षा की थी; इन घटनाओं को स्मरण करता हुआ भारत संघ मानवता के नाम पर सबको गले लगाता है।’ दलितों, भूख से बिलबिलाते आर्त गरीबों को पत्तल से जूठन बीनते देखकर लेखक हिन्दू धर्म के उन ध्वजा-धारकों की अच्छी खबर लेता है, जो इन भूखों को भोजन न करा, अघाए पण्डितों को ससम्मान सुस्वादु भोजन खिलाकर पुण्य-अर्जन का काम करते हैं।

स्त्री-स्वातन्त्र्य और विवाह-संस्था के बेमानी होने के स्वर ने पिछली शती के उत्तरार्द्ध में ही जोर पकड़ा है, किन्तु प्रसाद विवाह-संस्था की सार्थकता को प्रश्नांकित

करते हुए स्वतन्त्र प्रेम को जिस रूप में अपना समर्थन देते हैं, उस रूप में वे कदाचित् अपने समकालीन साहित्यकारों में सबसे आगे और अधिक क्रान्तिकारी हैं। न केवल उनकी 'ध्रुवस्वामिनी' (नाटक) धर्माधिकारी को धर्मशास्त्र के उन पृष्ठों को फाड़ने की बात कहती है अपितु 'कंकाल' में भी घण्टी के सन्दर्भ में विजय मन्त्रों के महत्त्व को नकारता हुआ, पूर्ण समर्पण और 'स्वतन्त्रता प्रेम की सत्ता को' स्वीकारता है। आर्य समाज के प्रभाव से विधवा विवाह के जो प्रयत्न विभिन्न उपन्यासों में दिखाए गए हैं, उनसे आगे बढ़कर प्रसाद का यह प्रेम-दर्शन एकदम आधुनिक स्त्री-स्वातन्त्र्य के प्रकल्प और विमर्श के समकक्ष खड़ा है। इसीलिए घण्टी और विजय का यह सन्दर्भ बिलकुल आज का बन जाता है। सुधारवाद से आगे जाकर यह क्रान्तिकारी पग है। बहुत पहले प्रसाद 'लिवटुगेदर' जीवन-शैली का समर्थन कर रहे हैं। विधवा विवाह का प्रसंग भी वे पूरी चिन्ता के साथ उठाकर उसका समुचित समाधान प्रस्तुत करते हैं, जो सहज अनुकरणीय बन जाता है। इसी प्रकार वेश्या को भी प्रसाद किसी आश्रम आदि में स्थापित कर कर्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेते अपितु "मेरा विश्वास है कि उन्हें अवसर दिया जाए तो वे कुलवधुओं से किसी बात में कम न होंगी"की धारणा रखते हैं।

प्रसाद सांस्कृतिक चेतना में जितने गहरे डूबे हैं, उससे यह अनुमानित करने की भूल का पर्याप्त अवकाशस्पेस बनता है कि उन्होंने हिन्दू, हिन्दुत्व तथा धर्म के पारम्परिक रूप को प्रश्न दिया होगा। स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। धर्म के छद्म, हिन्दुत्व के मिथ्या दम्भ, हिन्दुओं के कदाचार की वे न केवल घोर निन्दा 'कंकाल' में करते हैं, अपितु अपने पात्रों को इन सबके प्रतिरोध में खड़ा करते हैं "जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची।" ऐसे समय हिन्दू होना वे 'परम सौभाग्य' की बात नहीं मानते। हिन्दुओं की बद्धमूल और कूपमण्डूक दृष्टि का निषेध करते हुए वे तल्लु शब्दों में कहते हैं, "...हिन्दुओं के पास निषेध के अतिरिक्त और भी कुछ है", "हिन्दुओं को पाप को छोड़ पुण्य कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता।" हिन्दुओं द्वारा समाज में फैलाई गई छूतछात का वे खुला विरोध करते हैं। भिक्षाटन की प्रवृत्ति पर 'कंकाल' में कड़े शब्दों में यह कहा गया है "देखो यह बीसवीं सदी में तीन हजार बी.सी. का अभिनय।" पाप और पुण्य पर भी प्रसाद 'कंकाल' में वही बीज-विचार रखते हैं जिस कथ्य पर आगे चलकर भगवतीचरण वर्मा ने अपना अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास 'चित्रलेखा' लिखा "जो एक के यहाँ पाप है, वही दूसरे के लिए पुण्य है।" धर्म की व्याख्या जिस आधुनिकतापूर्ण दृष्टि से प्रसाद 'कंकाल' में करते हैं, वह तत्कालीन साहित्य में विरल है "धर्म मानवीय स्वभाव पर शासन करता है, न कर सके तो मनुष्य और पशु में भेद क्या रह जाए?" वे हिन्दू धर्म के उस दकियानूसी दृष्टिकोण

का तीव्र विरोध करते हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित होने देने में बाधक बनता है "स्वतन्त्रता और हिन्दू धर्मदोनों विरुद्धतावाची शब्द हैं।" प्रसाद मानते हैं कि व्यक्ति का आचरण ही उसके धर्म और जातीय श्रेष्ठता का मापक हो सकता है, इसीलिए वे 'कंकाल' में महर्षि वाल्मीकि को 'सच्चे तपस्वी ब्राह्मण' का गौरव देते हैं।

समाज और धर्म की अनेक ऐसी समस्याओं से 'कंकाल' में प्रसाद जूझते हैं जिनके समाधान के लिए हम वर्तमान में तरह-तरह के प्रयोग कर रहे हैं। इसका एक उदाहरण स्कूल में बच्चों के पाठ्य-क्रम-निर्धारण का प्रश्न है। आज हम स्कूली पाठ्य-क्रमों की नित नई बहसों में उलझ रहे हैं, किन्तु मंगल के माध्यम से प्रसाद स्कूली पाठ्य-क्रम के विषय में यह दिशा देते हैं "मंगल ने स्वीकार किया कि वह पाठ्य-क्रम बदला जाएगा। सरल पाठों में बालकों के चरित्र, स्वास्थ्य और साधारण ज्ञान को विशेष सहायता देने का उपकरण जुटाया जाएगा। स्वावलम्बन का व्यावहारिक विषय निर्धारित होगा।" इतने समय पहले लिखे गए उपन्यास में ऐसी प्रखर वैचारिकता, 'कंकाल' को अपनी शैल्पिक न्यूनताओं में भी बहुत-बहुत समसामयिक और प्रासंगिक बनाते हुए अपने पुनर्पाठ की बाध्यता देती है। आज के सांस्कृतिक-सामाजिक कुहासे को छोटने के लिए बहुत कुछ दिशा देता है।

'तितली' में प्रसाद सामन्तीय समाज में गाँव के यथार्थ का अंकन करने के लिए प्रवृत्त होते हैं किन्तु वे स्थितियों को जस-का-तस स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। तत्पुगीन समस्याओं और ज्वलन्त प्रश्नों पर वे अपनी ऐसी सोच प्रस्तुत करते हैं कि उनकी कल्पना का आदर्शलोक प्रकल्पित होता है। भले ही इसे समस्याओं का आदर्शकृत समाधान माना जाए किन्तु निदान के वे ऐसे सूत्र हैं जो हमारे वर्तमान में भी आवाजाही करते हैं। आज तक हम उन प्रश्नों से जूझ रहे हैं जिनके सम्बन्ध में प्रसाद 'तितली' में अपनी प्रखर विचार-सरणि प्रस्तुत करते हैं। अपने सीमित आकार में भी 'तितली' के कथ्य का इतना विस्तार है कि राष्ट्र और जातीय चिन्ता तत्कालीन गरीबी, उससे उत्पन्न वर्ग चेतना, सामाजिक ताने-बाने में गहन प्रवेश, धर्म और शास्त्र, वेदान्त, स्त्री-विमर्श के अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के विषय में आधुनिक दृष्टि जैसे कितने ही ऐसे गम्भीर प्रश्न हैं जिनसे प्रसाद का चिन्तन सीधे-सीधे टकराता है। प्रसाद के चिन्तन का वैचारिक ताप आज भी इन प्रश्नों पर विचार करते हुए हमें एक दिशा प्रदान करता है। अपनी पहली कहानी 'ग्राम' (1990) में ही जमींदारों के शोषण पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए प्रसाद पुनः 'तितली' में ग्राम-समाज की ओर मुड़ते हैं। इंग्लैंड से उच्च शिक्षा प्राप्त जमींदार पुत्र, उनकी नई पीढ़ी का प्रतिनिधि इन्द्रदेव, धर्म संस्कृति और जातीय जीवन में सुधार लाकर परिवर्तन का आकांक्षी है। जमींदारी प्रथा के बरक्स चकबन्दी और 'नमूने का गाँव' (मॉडल विलेज) को भले ही आदर्शकृत समाधान का दर्जा दिया जाए, किन्तु ये ही विचार हैं जो प्रसाद अपने समाज के बदलने

के लिए आवश्यक मानते हैं। ध्यान दीजिए कि उनके समकालीन उपन्यास-साहित्य में ग्रामोत्थान का क्या कोई ऐसा विकल्प रचा गया है? तितली का गाँव में स्वावलम्बी होकर स्कूल चलाना उस समय की स्त्री के लिए कम साहसपूर्ण पग नहीं है। महँगू का तहसीलदार, आदि के विरुद्ध विद्रोह उस समय समाज में सुलग रही वर्ग-चेतना को तो प्रतीकीकृत करता ही है, दलितों द्वारा आपसी अस्मिता की पहचान का भी प्रेरक बनता है—“मनुष्य को जान-बूझकर उपद्रव मोल न लेना चाहिए। विनय और कष्ट सहन करने का अभ्यास रखते हुए भी अपने को किसी से छोटा न समझना चाहिए, और बड़ा बनने का घमण्ड भी अच्छा नहीं होता।” अपनी परम्परावादी छवि के विपरीत यहाँ भी प्रसाद धर्म और शास्त्र तथा पश्चिम के धर्मईसाइयत के प्रति जो खुली दृष्टि रखते हैं वह ‘कंकाल’ के समान ‘तितली’ में भी प्रकाशित होती है। व्यक्ति के धर्म के सम्बन्ध में जो क्रान्तिकारी बात प्रसाद ने इतने वर्षों पहले यहाँ कही हैं, पश्चिम के विचारक आज उस बात को न केवल स्वीकार कर रहे हैं अपितु उसे किसी तरह जीवन में उतारने की जुगतें तलाश रहे हैं। व्यक्ति को अपना धर्म जन्म से मिलता है, जब उसे तत्सम्बन्धी कोई समझ भी नहीं होती, यह धर्म अपने माता-पिता का होता है। उनका मानना है कि जब व्यक्ति 30-35 साल का हो जाए तब सभी धर्मों का सार-तत्त्व जानने के बाद उसे अपने धर्म-चयन, वरण का अधिकार मिले। ‘तितली’ की शैला इस विचार-सूत्र को इस रूप में प्रस्तुत करती है—“प्रत्येक जाति में मनुष्य को बाल्यकाल ही में एक धर्म-संघ का सदस्य बना देने की मूर्खतापूर्ण प्रथा चली आ रही है। जब उसमें जिज्ञासा नहीं, प्रेरणा नहीं, तब उसके धर्म-ग्रहण का क्या तात्पर्य हो सकता है? मैं आज तक नाम के लिए ईसाई थी। किन्तु धर्म का रूप समझकर उसे मैं अब ग्रहण करूँगी।” पश्चिम की जीवन-प्रकृति, धर्म आदि कुछ सारभूत बातों को अपनाने में वे एक खुली दृष्टि की बात जगह-जगह कहते हैं। उनका मानना है कि—“पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है किन्तु उसमें प्राण देना पूर्व के अध्यात्मवादियों का काम है।” तभी ‘मानवता को स्रोत प्रसन्न धार में बह’ सकेगा। कहना न होगा कि प्रसाद के संस्कृति विषयक ऐसे विचार अपने समय से बहुत आगे के हैं। वर्तमान में हम उनकी पूर्ण सार्थकता पा रहे हैं।

इसी प्रकार प्रेमचन्द सामाजिक ताने-बाने में बड़ी गहरी टटोल करते हैं। विश्रुंखलित होती संयुक्त परिवार प्रणाली का चित्रण तो तत्समकालीन उपन्यास में कुशलता से हुआ है, किन्तु इस प्रणाली के चरमरा जाने के कारण ‘अपने अध्ययन’ के आधार पर प्रसाद जो ‘व्यक्तिगत चेतना का उदय’ बताते हैं, वह समस्या को समझने में एक सार्थक दिशा देता है। इसी क्रम में वृद्धावस्था की असहायता पर विचार करते हुए प्रेमचन्द इस बात के पक्षधर हैं कि पुत्र से अलग माता-पिता वृद्धावस्था में अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए अलग पूँजी का विधान करें। इसी प्रकार वे स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता को नितान्त आवश्यक मानते हैं।

प्रसाद अपने उपन्यास के लिए बहुत अधिक उपयुक्त कथा-भाषा का सन्धान नहीं कर पाए हैं, किन्तु प्रीतिकर यह है कि ‘तितली’ में वे तत्सम शब्दावली को इतना अधिक महत्त्व नहीं देते, बार-बार सहज रूप में अपनी भाषा में देशज, तद्भव शब्दों का प्रयोग कर उसे एक जीवनधर्मी गन्ध दे सके हैं। ‘पिछाड़’, ‘दिहाती’, ‘करारे’, ‘अठवारों’, ‘टूटी हुई धरने’, ‘महाराज’, ‘गुदाम’, ‘बंक’ (बैंक) आदि ऐसे शब्द हैं जिनके प्रयोग से भाषा अपना ऐसा मुहावरा रचती है जो प्रसाद की अपनी ही लीक का अतिक्रमण है। समय के नए परिप्रेक्ष्य में प्रसाद के ये उपन्यास अपनी एक नई पहचान और धज स्थापित करते हैं।

भारतीय दर्शन और उसका स्वातंत्र्योत्तर युग

प्रो. श्रीप्रकाश दुबे*
प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा**

इस आलेख के माध्यम से हम लोगों ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय अध्येतृता की दशा-दिशा एवं कतिपय उपलब्धियों की चर्चा करते हुए उसकी एक झँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आज से लगभग नौ दशक पूर्व जब सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अपना मैगनम ओपस 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी' पाँच भागों में (कैम्ब्रिज) लिख रहे थे तो उन्होंने कहा था "इतिहास में सम्भवतः पहली बार भारत के महान् ऋषियों ने 'स्वतंत्रता' का बिलकुल सही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने अपने जीवनानुभव, आलोचनात्मक चिन्तन-मनन, दृढ़ इच्छाशक्ति और यहाँ तक कि स्वयं के निषेध द्वारा भी अपनी निष्ठा को सत्यान्वेषण और मनुष्य के परम आध्यात्मिक सार-स्वरूप की खोज में चरितार्थ किया था।" आज 21वीं शताब्दी के इस दूसरे दशक में हम उसी महान् परम्परा और विरासत के उत्तराधिकारी हैं। इस उत्तराधिकार को न केवल हमें गर्व के साथ आत्मसात् करना चाहिए बल्कि यदि आवश्यक हो तो अपेक्षित परिष्कार के साथ इस विरासत को भावी पीढ़ी के योग्य हाथों में सौंपा भी जाना चाहिए।

हममें से प्रायः सभी को किसी न किसी रूप में इस आलोचनात्मक टिप्पणी का सामना करना ही पड़ता है कि स्वाधीन भारत में हमने कुछ भी ऐसा उत्पादित नहीं किया है जिसे दार्शनिक दृष्टि से आधारभूत और मौलिक कहा जा सके। वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार की टीका-टिप्पणी को औपनिवेशिक मन की ही उपज कहा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि दर्शन के क्षेत्र में मौलिकता और आधारभूत होने का

*अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् दर्शन-डी-9, अप्सरा अपार्टमेंट्स, दक्षिण सिविल लाइन्स, जबलपुर-482001 (म.प्र.)

**महामंत्री, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर- 470003 (म.प्र.)

क्या मतलब है? द्रष्टव्य है कि यूरोपीय दृष्टि में मौलिकता का अर्थ सर्वथा आमूल उद्भावना से लिया जाता है लेकिन भारतीय दृष्टि में मौलिकता का मतलब कभी भी विचारों के क्षेत्र में आमूल उत्प्रेक्षा से नहीं रहा है। 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' और 'ऊर्ध्वमूलं अधः शाखम्' (गीता 15,1) के भावबोध के साथ मौलिकता यहाँ सदैव ही परम्परा के उपवृंहण और उसकी पुनर्व्याख्या के रूप में ही पुरस्कृत होती रही है। इस दृष्टि से देखा जाय तो इसमें दो राय नहीं कि भारत की प्राचीन निगमागमिक, आस्तिक-नास्तिक दर्शन परम्परायें अपने आप में समृद्ध और सूत्र, भाष्य, वार्तिक एवं अन्यान्य प्रकार के टीका ग्रन्थों के माध्यम से बहुत ही गतिशील और वर्द्धमान रही हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि परम्परागत भारतीय दर्शन की वह प्रवहमान अन्तःसलिला आज विलुप्त-प्राय हो गई है। वस्तुतः 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन' पदावली से हम जिस युग के दार्शनिक अध्यवसाय और पुनर्रचनाओं को चिह्नित करना चाहते हैं वह भी पारम्परिक भारतीय दर्शन का वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक-नकारात्मक प्रभावों के साथ उसका युगानुरूप पुनराविष्कार ही है। किसी भी विचार-परम्परा की पुनर्व्याख्या और पुनराविष्कार की अपनी ही गति होती है। इस प्रक्रिया में मूल विचार-परम्परा का उन्नयन भी होता है तो कहीं-कहीं विजातीय प्रभावों के चलते उसके अवमूल्यन की सम्भावना भी बनी रहती है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन भी इस तथ्यात्मकता का अपवाद नहीं है। यह एक ओर अपनी मूल प्रेरणा अभी भी वैदिक-अवैदिक परम्परा से निःसृत दर्शनों से ही ग्रहण करता है तो दूसरी ओर कहीं-कहीं पश्चिमी विचारों के प्रभाव में अपने मूल से भटकता हुआ प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यह देखना उचित होगा कि इन सबके बावजूद स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन अपने दार्शनिक अध्यवसाय और पुनर्रचनाओं के साथ आज भी कितना जीवन्त बना हुआ है, अपने मूल से ही प्राणदाशक्ति पाकर किन-किन दिशाओं में अपना युगीन विस्तार पा रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के स्वरूप की बेहतर समझ के लिए उसकी रूपरेखा को कालक्रम की दृष्टि से तीन अन्तरिम खण्डों में विभाजित कर देखा जा सकता है। इसमें प्रथम कालखण्ड को उसकी 'पैतृक पृष्ठभूमि' से अभिहित किया जा सकता है। यह काल वस्तुतः अंग्रेजी राज का है जिसकी शुरुआत 1858 से होती है और 20वीं शताब्दी के दूसरे चरण तक आते-आते इसका अवसान हो जाता है। 19वीं शताब्दी में जन्मे लेकिन स्वतंत्रता के पूर्व तक सक्रिय रहे दार्शनिकों और उनके लेखन को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। दूसरे कालखण्ड में दार्शनिकों की उस पीढ़ी को रखा जा सकता है जो 20वीं शताब्दी के तीसरे चरण में सक्रिय रहे। इस पीढ़ी को स्वातंत्र्योत्तरयुगीन अध्येताओं की पहली पीढ़ी कहा जाना उचित होगा। इसी तरह स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के तीसरे कालखण्ड में जैसे अध्येताओं को रखा जा सकता है जो 20वीं शताब्दी के चौथे चरण में सक्रिय रहे। वस्तुतः यह कालखण्ड

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येताओं की दूसरी पीढ़ी है। इस पीढ़ी के अध्येताओं की सक्रियता 21वीं शताब्दी तक विस्तार पाती है। इस पीढ़ी के अन्तर्गत भारतीय विश्वविद्यालयीन व्यवस्था में प्रशिक्षित अनेकों वरिष्ठ दार्शनिकों के नाम गिनाये जा सकते हैं। लेकिन साथ ही साथ कुछ युवा दार्शनिकों को भी इसी पीढ़ी के अध्येताओं के रूप में मान्य किया जा सकता है जिन्होंने दर्शन के क्षेत्र में अपेक्षित जागरूकता दिखाई है और महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप भी किये हैं। ऐसे युवा अध्येताओं को स्वातन्त्र्योत्तर युग की तीसरी पीढ़ी मानी जा सकती है। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन भारतीय दर्शन के अध्येताओं की एक चौथी पीढ़ी का भी संकेत करना यहाँ अनुचित नहीं होगा जो वास्तव में सम्प्रति अपनी दार्शनिक प्रतिबद्धता के साथ उदीयमान है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की इस उपर्युक्त रूपरेखा का रंग-रोगन करने के लिए हम आगे बढ़ें, इससे पहले एतद्विषयक अपनी कुछ सीमाओं का विनयपूर्वक संकेत कर देना उचित होगा। देखा जाय तो स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का क्षेत्र न केवल विस्तृत बल्कि बहुआयामी भी है। इसीलिए इसकी दशा-दिशा और उपलब्धियों का आकलन करना एक कठिन कार्य है। इसके समुचित आकलन और मूल्यांकन के लिए तो कई खण्डों में पुस्तकाकार लेखन भी अन्ततः अपर्याप्त ही रहेगा। ऐसे में एक आलेख के अन्तर्गत इसके सतत वर्द्धमान क्षितिज को समाहित करने का यह प्रयास एक अकादमिक खतरा उठाने जैसा ही कहा जायेगा। इसलिए विषय-वस्तु के विस्तार और अपनी सीमाओं का ध्यान रखते हुए हम यहाँ स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की एक सिलसिलेवार झाँकी ही प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में यह सम्भव है कि कुछ वरिष्ठ दार्शनिकों को और कुछ कनिष्ठ तथा उदीयमान अध्येताओं को हम सन्दर्भित न कर पायें। परन्तु इसे उन वरिष्ठों के प्रति अवमानना और कनिष्ठों के प्रति अनुराग का अभाव नहीं समझा जाना चाहिए।

औपनिवेशिक युग में भारतीय दर्शन की क्या दशा-दिशा रही, इसका जायजा लेने के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से 2011 में ही प्रकाशित एक ग्रन्थ को सन्दर्भित करते हुए अपनी बात को आगे बढ़ाना उचित होगा। *इण्डियन फिलॉसफी इन इंग्लिश - फ्रॉम रेनासां टू इण्डिपेन्डेंस* नामक इस ग्रन्थ को नलिनीभूषण एवं जे.आर. गारफिल्ड ने मिलकर सम्पादित किया है। यह ग्रन्थ भारतीय पुनर्जागरण काल से लेकर भारत में ब्रिटिश राज के अवसान काल तक भारतीय दर्शन की स्थितिपरक एक अच्छी तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसमें विवेकानन्द, लाजपत राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, भगवान दास, रामचन्द्र रानडे, हीरालाल हलधर, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, सूर्यनारायण शास्त्री, एम. हिरियन्ना, कुमारस्वामी, मलकानी, अरविन्द घोष, अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, पी.टी. राजू तथा रास बिहारी दास जैसे लोगों के विचारों की चर्चा की गई है। इनमें से अधिकांश ने उस युग में नव्य-वेदान्त की स्थापना का कार्य किया। हमारे लिए यह प्रसन्नता की बात है कि सम्पादक-द्वय ने अपने इस दस्तावेजी उपक्रम में हममें से एक (एस.पी.

दुबे) के द्वारा चार भागों में सम्पादित *फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी* का समारोह के साथ उल्लेख किया है और अपने उपक्रम के लिए स्रोत ग्रन्थ के रूप में उसका उपयोग भी किया है। इस ग्रन्थ के चारों भागों का सम्पादन उन्होंने 1994 से 1998 के बीच किया था और इसकी सामग्री वे अध्यक्षीय भाषण रहे जो 1925 से लेकर 1997 तक देश के प्रतिष्ठित दार्शनिकों एवं अध्येताओं के द्वारा 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' के विभिन्न अधिवेशनों में दिये गये थे। द्रष्टव्य है कि 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' एक ऐसा संगठन है जो अपने दार्शनिक उपक्रमों को अंग्रेजी माध्यम से संचालित करता है। इसलिए यह तो स्वाभाविक है कि उपर्युक्त सम्पादित इन ग्रन्थों की सामग्री और भाषा अंग्रेजी ही है। इस सन्दर्भ में प्रो. दयाकृष्ण की एक टिप्पणी का स्मरण आना स्वाभाविक है, जो पूरे तौर से सही नहीं भी होते हुए उल्लेखनीय अवश्य है। वह यह कि कोई भी व्यक्ति जो अपनी दार्शनिक पुनर्रचना अंग्रेजी माध्यम से प्रस्तुत करता है, उसे सही अर्थों में भारतीय दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। हकीकत यह है कि अंग्रेजी माध्यम से भारतीय दर्शन को उसकी उस प्रामाणिकता में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जिस प्रामाणिकता के साथ वह अपनी मातृभाषा में प्रस्तुत हुआ है। भारतीय दर्शन का अध्येता होने के लिए यह जरूरी शर्त है कि उस व्यक्ति की संस्कृत, पालि और यहाँ तक कि प्राकृत भाषा में अच्छी पकड़ हो। वास्तव में देखा जाय तो 1835 में थॉमस मैकाले द्वारा प्रस्तावित *मिनट्स ऑफ एजुकेशन* के बाद भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में अंग्रेजी भाषा को माध्यम बनाया गया और इसी के साथ प्रोटेस्टेंट मिशनरी प्राध्यापकों ने भारतीय महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी माध्यम से दर्शन के अध्ययन-अध्यापन का जिम्मा लिया। द्रष्टव्य है कि भारतीय पुनर्जागरण में दर्शनशास्त्र की केन्द्रीय भूमिका रही है। इसने स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक गति और उत्तेजना प्रदान कर वैतालिक की भूमिका निभाई है। श्री अरविन्द ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति *दी रेनासां इन इण्डिया* (1918) में इसे उचित ही भारत का पुनर्जागरण कहा है। दार्शनिकों ने ही भारत के जन-गण की राजनीतिक स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया है। उस समय के दार्शनिकों ने न केवल इस संघर्ष में दर्शन की भूमिका को तय किया बल्कि उस संघर्ष के माध्यम से अपने दर्शन को जीवन में चरितार्थ करने का अर्थ भी प्रदान किया। वह इस रूप में कि 'अमृतपुत्र' के रूप में स्वतन्त्रता मनुष्य होने का तत्त्वमीमांसीय अधिकार है। वह जो इसे आत्मसात् नहीं कर सकता और वह जो इसे हरने का दम्भ भरता है, दोनों अज्ञानी ही कहे जा सकते हैं। निश्चय ही औपनिवेशिक युग के भारतीय दार्शनिक जितना सृजनधर्मी रहे उतना ही प्रामाणिक और वैश्वीय दृष्टि रखनेवाले थे। यहाँ यह अवधेय है कि पूरा का पूरा स्वातन्त्र्योत्तर युग का भारतीय दर्शन अपने इसी पैतृक पृष्ठभूमि में मूलित है। उस समय के बहुतेरे स्वनामधन्य शिक्षकों ने अनेकों अध्येताओं को दर्शन में प्रशिक्षित किया और वही स्वातन्त्र्योत्तर युग

के भारतीय दार्शनिक के रूप में मान्य हुए। वास्तव में उन लोगों ने भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक नई परम्परा की जड़ रोपी और न केवल भारत का समकालीन दर्शन बल्कि विश्व-दर्शन भी उनके इस दार्शनिक नवारम्भ का ऋणी है।

औपनिवेशिक काल में भारतीय दर्शन के कुछ-एक प्रतिनिधि विचारक बड़े ही मूर्धन्य और जननायक जैसे रहे। इनमें महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी को सर्वाधिक प्रभावशाली चिन्तकों में परिगणित किया जा सकता है। टैगोर (1861-1941) की असाधारण और अद्वितीय साहित्यिक प्रतिभा पर तो भारत को बहुत गर्व है। इनकी प्रतिभा तो संस्कृति की दार्शनिक समझ और मुनष्य की गरिमा के क्षेत्र में भारत की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रतिष्ठित हुई है। स्वयं राधाकृष्णन् इनकी 'समग्रतावादी दृष्टि' के कायल थे और अपनी एक प्रारम्भिक पुस्तक में उन्होंने लिखा भी है कि टैगोर की समग्रतावादी दृष्टि ऐसी है जिसे शरीर और मन तथा जड़ और चेतन के द्वैत में विभाजित नहीं किया जा सकता (दृष्टव्य, *दी फिलॉसफी ऑफ आर. टैगोर* -1918)। महात्मा गाँधी ने तो आजादी की लड़ाई का नेतृत्व करते हुए भारत को एक दर्शनाधारित अतिविशिष्ट राजनीति दिया जो आज भी न केवल भारत के लिए धरोहर जैसा है बल्कि पूरी विश्वमानवता आज उसमें अपना त्राण देखती है। उनके दर्शनाधारित राजनीति के निहितार्थ को बस चन्द शब्दों में यही कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता सही अर्थों में तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने आप में अन्दर से स्वतन्त्र हो, और व्यक्ति की ऐसी स्वतंत्रता अपने ऊपर आत्मनियंत्रण, आत्मालोचन तथा आत्मानुशासन से ही सम्भव है। अपने *हिन्द स्वराज* (1909) में उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के वैज्ञानिक तकनीकी पक्षों की बखूबी आलोचना हाइडेगर से भी गहरे में जाकर की है और भारत के स्वराज्य की वास्तविक रूप-रेखा को प्रस्तावित किया है। इसके लिए उन्होंने साधन के रूप में केवल और केवल अहिंसा और सत्याग्रह को अपनाया। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि गाँधीजी भारत से बाहर पश्चिमी दुनिया की अच्छी चीजों के प्रशंसक नहीं थे। *यंग इण्डिया* (26-06-1924) में उन्होंने लिखा है: "स्वराज की मेरी अवधारणा भारतीय सभ्यताबोध की अद्वितीय विशिष्टता को अक्षुण्ण रखती है। हम बहुत कुछ लिखना चाहते हैं लेकिन उन सब को भारतीयता के स्लेट पर ही लिखा जाना चाहिए। हम पश्चिम से तभी कुछ लेने के हकदार हैं जब हम बदले में उसे वह सूदसहित लौटा सकें।"

अवधेय है कि उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन अपनी प्रकृति में अधिकांशतः आदर्शवादी और प्रत्ययवादी रहा है। इसकी मूल प्रेरणा का स्रोत वेदान्त रहा, लेकिन उस काल की दार्शनिक पुनर्रचनाओं को 'नववेदान्त' से अभिहित किया जा सकता है जिसने अपनी दार्शनिक योजना में प्रगतिशील रचनात्मक जीवन के लिए अधिक अवकाश निर्मित किया है। इस काल की दार्शनिक प्रवृत्ति को पाश्चात्य विचारकों की उस आलोचना के प्रत्युत्तर में भी देखा जा सकता है जिसे अलबर्ट स्वीट्जर (1575-1965)

ने अपनी पुस्तक *इण्डियन थॉट ऐण्ड इट्स डेवेलपमेंट* (1936) में यह कहते हुए सन्दर्भित किया है कि भारतीय दर्शन पलायनवादी है। वस्तुतः स्वीट्जर का यह दृष्टिकोण शॉपेनहावर (1797-1860) जैसे फ्रेंच विचारकों की औपनिषदिक समझ पर आधारित है। इसका पुरजोर उत्तर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपनी कृति *ईस्टर्न रिलीजन ऐण्ड वेस्टर्न थॉट* (1939) में दिया है। उनके अनुसार यह धारणा ऐतिहासिक रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकती कि हिन्दू चिन्तन में जीवन और जगत् के प्रति नकार और निराशा निहित है जबकि ईसाई चिन्तन अपने स्वरूप में जीवन और जगत् के प्रति स्वीकार्यता और आशावाद को लिए हुए है। वास्तव में दोनों के बीच का वास्तविक विरोध धर्म और स्वायत्त-मानववादी दृष्टिकोण को लेकर है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना हम उचित समझते हैं कि 1916 में अमलनेर, महाराष्ट्र में श्रीमन्त प्रताप सेठ के सौजन्य से 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' की स्थापना हुई और कोल्हापुर में मई 1917 में 'इण्डियन फिलॉसफिकल एसोसिएशन' का पहला अधिवेशन हुआ तथा *इण्डियन फिलॉसफिकल रिव्यू* नामक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया। इसका पहला अंक जुलाई 1917 में प्रकाशित हुआ। ये सभी संस्थागत प्रयास औपनिवेशिक युग में भारतीय दर्शन को संसदीय स्वरूप प्रदान करनेवाले प्राथमिक और पहलकारी रहे हैं।

उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन के संसदीय स्वरूप को समझने के लिए एतद्विषयक ब्रिटिश औपनिवेशिक दृष्टि और फ्रेंच औपनिवेशिक दृष्टि के अन्तर को समझना भी बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। इन दोनों परम्पराओं के विचारकों की समझ भारतीय दर्शन के प्रति एक-दूसरे से भिन्न रही है। भारत में श्री अरविन्द (1872-1950) के चिन्तन को 'फ्रेंच औपनिवेशिक दृष्टि' से प्रभावित और उसी का प्रतिनिधित्व करनेवाला माना जा सकता है। श्री अरविन्द मौलिक रूप से एक प्रत्ययवादी दार्शनिक थे और उन्होंने वैदिक तत्त्वदृष्टि को 'विकासवादी प्रारूप' में देखते हुए एक ऐसा 'समग्र अद्वैतवादी दर्शन' प्रस्तुत किया है जिसमें जड़ और चेतन का अन्तहीन द्वैत नहीं बल्कि दोनों एक ही वैश्विक प्रक्रिया के समान भागीदार हैं। अनन्त के तर्क और मायावाद के बदले लीलावाद पर आधारित उनका दर्शन भौतिकवादियों के 'एस्सेटिक डिनायल' और अध्यात्मवादियों के 'मैटीरियलिस्टिक डिनायल' नामक दो अतियों से बचते हुए इस पृथ्वी पर 'दिव्य जीवन' के अवतरण का दर्शन है। अपनी तत्त्वदृष्टि, इतिहास-दर्शन, संस्कृति-दर्शन और योगसमन्वय के द्वारा उन्होंने भारतीय सभ्यताबोध को दुनिया के समक्ष जिस 'कॉस्मिक टीलियोलॉजी' के साथ प्रस्तुत किया है वह अपने आप में जितना मौलिक है उतना ही प्रयोगधर्मी और सार्वभौमिक चरित्रवाला है। इस विश्वदृष्टि ऋषि को अपनी दार्शनिक योजना के याथार्थ्य पर कितना भरोसा रहा होगा कि उन्होंने भारत की स्वाधीनता को भी एक वैश्वीय भवितव्यता के अंगभूत घटना के रूप में देखा। इस अर्थ में भारत की स्वतन्त्रता का

मूल्य महज राजनीतिक और भौगोलिक न होकर वैश्वीय हो जाता है। यह मानव की आदर्श एकता के चरितार्थीकरण में भारत की भूमिका का हेतुबन्ध है।

ब्रिटिश औपनिवेशिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करनेवाले भारतीय दार्शनिकों में के. सी. भट्टाचार्य (1876-1949) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। वे आधुनिक भारत के ऐसे तत्त्वमीमांसक थे जिन्होंने अद्वैतवेदान्त की पुनर्चना काण्ट और हेगेल की विचार-सरणी के समानान्तर दुनिया के समक्ष रखा। अपने बहुविध प्रकरणात्मक निबन्धों यथा 'कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी', 'सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम', 'दी कॉन्सेप्ट ऑफ एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फार्म्स' इत्यादि के द्वारा उन्होंने अपनी दार्शनिक पुनर्चना को आधार प्रदान किया है। यद्यपि उन्होंने भारतीय दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदायों पर अन्तर्दृष्टि सम्पन्न प्रकरणात्मक लेखन किया है लेकिन ऐसे अवान्तर लेखन जो लीक से हटकर हैं, उनमें जैन दर्शन के अनेकान्तवाद (1925) की पुनर्व्याख्या विशेष महत्त्व की प्रतीत होती है। उन्होंने अनेकान्तवाद के दार्शनिक-तार्किक महत्त्व को पुनरोद्घाटित करते हुए यह दिखाया कि न तो तादात्म्य और न ही विरोध को तार्किक विचार-सरणी के लिए आधारभूत माना जा सकता है। वस्तुतः तादात्म्य और विरोध दोनों ही परस्पर विनियोजनीय हो सकते हैं और दोनों की ऐसी विनियोजनीयता (अल्टरेशन) ही व्यापक दार्शनिक आधार को प्रस्तुत करती है। तादात्म्य और विरोध के बदले 'सहावस्थान' (टुगेदरनेश) तार्किक विचार-सरणी की अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत कोटि है जिसे जैन दार्शनिकों ने 'क्रमार्पण और सहार्पण' नामक दो प्रारूपों में देखा है। कुल मिलाकर 'अनेकान्तवाद' अनिर्वाच्यता का एक विशिष्ट तर्कशास्त्र है जो सप्तभंगी नय के द्वारा सत्य की वैकल्पिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। भट्टाचार्य द्वारा अनेकान्तवाद की ऐसी व्याख्या को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र और सामासिक अथवा बहुलवादी संस्कृति के लिए उपर्युक्त दार्शनिक आधार के रूप में समझा जा सकता है।

भारत के पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य में के.सी. भट्टाचार्य का 'स्वराज इन आइडियाज़' नामक व्याख्यान भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है जिसे उन्होंने 1929 में हुगली कॉलेज, कलकत्ता के विद्यार्थियों के बीच दिया था। बाद में इसका प्रकाशन *विश्वभारती जर्नल-अंक-XX*, 1954, में हुआ है। उनका यह व्याख्यान अपने आप में भारत के 'वैचारिक स्वराज' का दार्शनिक घोषणा-पत्र जैसा है। द्रष्टव्य है कि 1984 में पुणे से प्रकाशित *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली* [अंक-XI (4)] में उनके इस व्याख्यान का पुनर्मुद्रण किया गया और डॉ. दयाकृष्ण, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. रामचन्द्र गाँधी, डॉ. एस.पी. गौतम सरीखे लोगों ने इस व्याख्यान के भाष्य किये हैं। यद्यपि यह व्याख्यान उन्होंने अंग्रेजी में दिया था लेकिन वैचारिक स्वराज के मातृभाषीय राजपथ के महत्त्व और पश्चिमी विचारों के असमीक्षित पृष्ठपेपण के दुष्परिणामों को उन्होंने बखूबी उजागर किया है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी निर्देशित किया है कि भारतीय दर्शन

को किस प्रकार एक सार्वभौमिक ज्ञानविधा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वैचारिक स्वराज के आशय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि "सांस्कृतिक पराधीनता साधारणतः अचेतन प्रकार की होती है और उसमें दासता प्रारम्भ से ही निहित होती है। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना सदैव अवांछनीय ही हो, यह आवश्यक नहीं। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनायें उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक भूत या प्रेत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गईं। उसे एक नये जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।"

स्वराज की भारतीय अवधारणा के सन्दर्भ में यहाँ भारतरत्न डॉ. भगवानदास (1869-1958) के उस आलेख का जिक्र करना प्रासंगिक प्रतीत होता है जिसे उन्होंने 1921 के मुम्बई कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रस्ताव-पत्र के रूप में प्रस्तुत किया था। उन दिनों स्वराज के स्वरूप को लेकर बुद्धिजीवियों के बीच मतभेद और सामान्यजन में अनेकों भ्रान्तियाँ पनप गई थीं और इन्हीं सब को दूर करने के लिए इस प्रस्ताव-पत्र को उन्होंने तैयार किया था। लेकिन उनके इस आलेख की चर्चा अकादमिक जगत् में नहीं के बराबर होती है। डॉ. भगवानदास एक महान् शिक्षाविद्, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े एक बहुमान्य बुद्धिजीवी और थियोसोफिकल सोसायटी से जुड़े सक्रिय व्यक्ति थे। उनके अनुसार 'स्वराज' मूल रूप में एक नैतिक प्रत्यय है और व्यवस्था के अर्थ में यह 'स्व-शासन' है। जिस प्रकार एक व्यक्ति में दो तरह की आत्माएँ उच्चतर और दूसरी निम्नतरका निवास होता है अर्थात् व्यक्ति दैवीय और पाशविक दोनों ही प्रवृत्तियों से संचालित होता है, उसी प्रकार किसी समाज और राष्ट्र की भी उच्चतर और निम्नतर आत्मा होती है। कोई भी सरकार या शासन तभी सुशासन अथवा 'स्व-शासन' से अभिहित हो सकता है जब वह उच्चतर आत्मा द्वारा संचालित हो। उच्चतर आत्मा से अभिप्रेरित राज-काज और नीति ही अधिकाधिक समन्वयकारी हो सकती है। इसका लोकतांत्रिक क्रियान्वयन और व्यवस्थापन केवल विवेकवान् विधायिका के द्वारा ही सम्भव है, जो प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाले 'मैं' और 'हम' को समन्वित कर सके। जैसे प्रतिस्पर्धा और परस्पर सहयोग दोनों ही आवश्यक हैं, उसी प्रकार वैयक्तिक पहल और सामाजिक विनियोग दोनों ही स्वस्थ एवं समृद्ध समाज के लिए अपरिहार्य हैं। यदि हम भारत के स्वराज को इसी अर्थ में लें, और उसकी स्थापना ऐसे ही औचित्यपूर्ण विधि तथा आध्यात्मिक मनोवृत्ति के निर्वाचित विधायकों के द्वारा

हो, तभी भारत जिस स्वराज को प्राप्त करने की लड़ाई लड़ रहा है, वह स्वराज शताब्दियों तक अक्षुण्ण रह सकेगा। डॉ. भगवानदास की यह अन्तर्दृष्टि, वास्तव में, लोकतंत्रात्मक स्वराज की नैतिक आधारभूमि की ओर महत्त्वपूर्ण संकेत है। इस नैतिक आधार के बिना किसी भी लोकतंत्र का 'भीड़तंत्र' में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक ही है। उनकी अनेकों बहुमान्य कृतियों में *दी एसेन्सियल यूनिटी ऑफ ऑल रिलिजन्स* (1939) सर्वाधिक प्रतिष्ठित कृति है।

इस युग के मान्य अध्येताओं में आर.डी. राणाडे (1886-1957) का व्यक्तित्व बिलकुल अलग प्रकार था। उनकी प्रसिद्धि एक दार्शनिक के साथ-साथ रहस्यविद् के रूप में भी थी। *ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी* (1927) उनकी बहुमान्य कृति है। इसमें उन्होंने न केवल औपनिषद् दर्शन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा और अन्तर्वस्तु के साथ प्रस्तुत किया है बल्कि लॉर्ड रोनाल्डसे की उस आलोचना को सिरे से खारिज भी किया है कि भारतीय दर्शन निराशावादी है। उनके जीवनकाल की अन्तिम कृति *भगवद्गीता ऐज ए फिलॉसफी ऑफ गॉड रियलायजेशन* (1959) थी। मरणोपरान्त उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण (मैग्गम ओपस) कृति *वेदान्त - दी कल्मीनेशन ऑफ इण्डियन थॉट* (1970) नाम से प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को उन्होंने महान् समन्वयकारी दार्शनिक सिद्ध किया है और साथ ही साथ यह प्रतिपादित किया है कि 'स्वाराज्यम् वैराज्यम्' की वैदिक दृष्टि प्लेटो के 'दार्शनिक राजा' के सिद्धान्त की अपेक्षा उच्चतर आदर्श को प्रस्तुत करती है। 'स्वाराज्यम्-वैराज्यम्' की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति ही वास्तव में देवाधिदेव 'अनन्याधिपति' होता है।

राणाडे के ही समकालीन अनुकूलचन्द्र मुखर्जी थे जिन्हें उचित ही 'इलाहाबाद का प्लेटो' कहा जाता था। *दी नेचर ऑफ सेल्फ* (1938) एवं *सेल्फ, थॉट एण्ड रियलिटी* (1957) उनकी अति प्रसिद्ध और गम्भीर दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें उन्होंने अद्वैतवेदान्त में परम चैतन्य के स्वरूप को ब्रिटिश-नवहेगलवादी अभिगम में उद्घाटित किया है। ये अपने समय के सम्भावनावान् और मौलिक भारतीय दार्शनिकों में अन्यतम रहे। इनकी रचनाओं में तुलनात्मक दार्शनिक संस्कृति और उसकी नवोन्मेषी सृजनात्मकता का भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में उत्कर्ष देखा जा सकता है।

औपनिवेशिक युग के भारतीय दार्शनिकों में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (1888-1975) का नाम निर्विवाद रूप में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। पूरे विश्व में इनकी प्रतिष्ठा 'पूरब और पश्चिम के प्रवक्ता' के रूप में थी। इन्होंने मानव-जीवन के सभी पक्षों की व्याख्या 'नव-वेदान्तवादी' दृष्टि से किया है। नव-वेदान्त की तत्त्वमीमांसा को उन्होंने परमतत्त्ववादी वैश्वीय दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में पुनर्व्याख्यायित करते हुए यह प्रतिपादित किया कि यह दृश्यमान् जगत् परम सत् का ही आभास है लेकिन फिर भी यह भ्रम मात्र नहीं, जैसा कि अद्वैत वेदान्त के परम्परागत चिन्तक मानते रहे हैं। वस्तुतः शंकर के मायावाद का विरोध और जगत् की यथातथ्यता का स्वीकार

औपनिवेशिक युग के नव-वेदान्ती-चिन्तन की प्रस्थानमूलक विशेषता रही है। राधाकृष्णन् का 'धार्मिक अनुभूति' के स्वरूप की व्याख्या और धर्म के औचित्य प्रतिपादन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। पूरब और पश्चिम के मध्य दार्शनिक संवाद की आवश्यकता को औचित्यपूर्ण ठहराते हुए उन्होंने तुलनात्मक दर्शन को सदैव बढ़ावा दिया। इस हेतु हवाई विश्वविद्यालय, अमेरिका में 'ईस्ट-वेस्ट सेन्टर' की स्थापना में उन्होंने पहलकारी भूमिका निभाई थी। 'ऐन आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाईफ' में उन्होंने सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया कि बुद्धि सत्य को उसकी सम्पूर्णता में जान ही नहीं सकती। अन्तःप्रज्ञा ही मानवीय चेतना का वह आयाम है जहाँ सत्य अपनी सम्पूर्णता में साक्षात्कृत होता है। इस अन्तःप्रज्ञात्मक साक्षात्कार में सारे द्वैतों का, आपातिक विरोधों का उपशमन हो जाता है। यही अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूति धर्म, नीति और सर्वसमावेशी अद्वैत सत्ता को प्रमाणित करती है। बुद्धि केवल विश्लेषण में ही विश्रान्त हो जाती है लेकिन अन्तःप्रज्ञा अपने संश्लेषणात्मक व्यापार में एक समग्र बोध के साथ आदर्श जीवन की सम्भावना को प्रस्तुत करती है। अपने 'आदर्श जीवन' की अवधारणा को उन्होंने हिन्दू जीवन-दृष्टि पर सफलता के साथ लागू कर दिखाया है। अपनी एक महत्त्वपूर्ण दूसरी कृति *दी हिन्दू व्यू ऑफ लाईफ* में उन्होंने पश्चिम के समक्ष इस भारतीय सत्य को प्रामाणिकता के साथ उजागर किया कि भारत की सांस्कृतिक-धार्मिक चेतना बहुदेववादी होते हुए भी अद्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हजारों वर्षों से अनेकता में एकता वाली भारतीय संस्कृति का यही अमृतनाभ है जिसके चलते अनेक उतार-चढ़ावों और वैजात्य प्रहारों के बावजूद इसकी प्राणदा शक्ति समाप्त नहीं हुई है।

यद्यपि नववेदान्त की तर्कसम्मत विश्लेषणात्मक तत्त्वमीमांसा की शुरुआत औपनिवेशिक युग में के.सी. भट्टाचार्य से ही होती है लेकिन उसी परम्परा में रासबिहारी दास (1899-1976) भी आते हैं जिन्होंने उसे अपने तरीके से आगे बढ़ाया है। काण्ट के परमसत् विषयक विशिष्ट संशयवाद और व्हाइटहेड के चिन्तन के प्रभाव में वेदान्ती तत्त्वमीमांसा की पुनर्रचना को उनके दार्शनिक चिन्तन का सर्वाधिक मौलिक पक्ष माना जा सकता है। *रिव्यू ऑफ मेटाफिजिक्स* (अंक-10 से 1- 1956) में प्रो. बुर्च ने उनके सम्बन्ध में उचित ही कहा है कि प्रो. दास का दार्शनिक चिन्तन 'यूथफुल स्पेक्युलेशन' और 'मैथ्योर एनालिटिकल' नामक दो चरणों में विकसित हुआ है। इसमें पहले चरण की सम्पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति उनकी पुस्तक 'सेल्फ एण्ड दी आइडियल' (1935) में देखी जा सकती है। यद्यपि यह पाश्चात्य प्रभाव में विकसित हुआ उनका चिन्तन है जो स्पष्टतः वेदान्त की परम्परा में आते हुए भी इस अर्थ में अत्यन्त मौलिक है कि उसे परम्परागत वेदान्त दर्शन के किसी सम्प्रदाय से बाँधा नहीं जा सकता। उनकी अन्य पुस्तकाकार कृतियों में *दी एसेन्सियल ऑफ अद्वैतिज्म* (1931), *दी फिलॉसफी ऑफ व्हाइटहेड* (1937) एवं *ऐन इन्ट्रोडक्शन टू शंकर*

(1968) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रो. दास के दार्शनिक योगदानों को समझने के लिए उनके प्रकीर्ण लेखनों का संग्रह (रासबिहारी दास : फिलॉसफिकल एस्सेज, सम्पा. रामप्रसाद दास, यूनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता) बहुत ही उपयोगी है।

औपनिवेशिक युग के वैसे विश्वप्रसिद्ध चिन्तक और बुद्ध-पुरुष जो भारतमाता की गोद में पैदा हुए, उनमें जिद्दू कृष्णमूर्ति (1895-1986) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सभ्यता की वर्तमान दहलीज पर मनुष्य की चेतना पर शताब्दियों से पड़े परम्परा, इतिहास और गहन मनोवैज्ञानिकता की परतें जो मनुष्य को उत्तरोत्तर परतंत्रता की जंजीर में जकड़ती जा रही हैं, उनका भंजन करते हुए 'क्रियात्मक मानव स्वातन्त्र्य' के इस भाष्यकार ने अपने जीने योग्य जीवन्त विचारों से पूरी दुनियाँ के समक्ष एक मौलिक जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है। कुछ इन्हें बुद्ध तो कुछ 'प्रेम का देवता' कहते हैं। दार्शनिक जगत् तो इनमें सर्वदृष्टि प्रहाणवादी नागार्जुन का आधुनिक रूप देखता है। औपनिवेशोत्तर काल में ओशो रजनीश जो अपने आप में भारत के 20वीं शताब्दी के क्रान्तिकारी चिन्तक रहे, उन्होंने कृष्णमूर्ति के चिन्तन से बहुत कुछ लिया है। कृष्णमूर्ति कोई 'एकेडेमिक फिलॉसफर' नहीं रहे बल्कि वे आत्मचेता बुद्ध पुरुष थे। उनके व्याख्यानों का संग्रह अपने आपमें एक वाङ्मय है (18 भागों में मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित) लेकिन *कॉमेन्टरीज ऑन लिविंग, फ्रीडम फ्राम नोन, फर्स्ट एण्ड लास्ट लिबेरेशन* और *यू आर द वर्ल्ड* इत्यादि में उनके मौलिक विचार व्यवस्थित रूप में प्राप्त होते हैं।

के.सी. भट्टाचार्य के शिष्य एवं महात्मा गाँधी के अनुयायी धीरेन्द्र मोहन दत्त (1898-1974, पटना विश्वविद्यालय) का नाम उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन के कुछ विरले प्रामाणिक, प्रांजल और निर्दोष अध्येताओं में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। *सिक्स वेज ऑफ नोइंग* (1932), *द फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी* (1953) और *चीफ करेण्ट्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी* (1950) उनकी प्रसिद्ध और आज भी पठन-पाठन में सर्वाधिक उपयोग की जानेवाली पुस्तकें हैं। भाषा और उसमें निहित कोटियों का विश्लेषणदार्शनिक मीमांसा की पूर्वपिक्सा हैयह उनकी कृतियों में सर्वत्र परिलक्षित होता है। इसी तरह बीते हुए कल से पहले के भारतीय दर्शन का लेखा-जोखा तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक कि सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (1885-1952) के द्वारा पाँच खण्डों में प्रकाशित *ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* (1922) का उल्लेख न किया जाय। पारम्परिक भारतीय दर्शन की उसके समस्त गुण-सूत्रों के साथ जिस प्रगत रूप में उन्होंने दुनियाँ के सामने रखा है, इसके लिए भारत की भावी दार्शनिक पीढ़ी उनके प्रति सदैव ऋणी रहेगी। इसके अतिरिक्त उन्होंने योगदर्शन, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं भारतीय नीतिमीमांसा जैसे विषयों पर भी इदंप्रथमतया अत्यन्त प्रामाणिक लेखन किया है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा 1858 में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारत को सद्यः अपने नियंत्रण में लिया और भारत में 'ब्रिटिश राज' की स्थापना हुई। इसके पश्चात् इस देश को 'राजनीतिक स्वराज' पाने में पूरे नौ दशक लगे। पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व और कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं के चलते स्वाधीन भारत में पंचशील की बौद्ध अवधारणा को एक राजनीतिक आयाम प्राप्त हुआ। डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने भी इसे मुनासिब समझा और अपनी स्वीकृति दी, क्योंकि वे 1934 में लाखों हिन्दुओं के साथ बौद्धधर्म स्वीकार कर इसके लिए पहले ही पृष्ठभूमि तैयार कर चुके थे। इस तरह बौद्ध अध्ययन को इस देश में सरकारी तौर पर बढ़ावा मिला और बौद्धधर्म से सम्बन्धित इस देश के कुछ ऐतिहासिक स्थलों जैसे, सारनाथ, नालंदा और बोधगया को एक नया महत्त्व प्राप्त हुआ। तिब्बत से भोटियों के व्यापक निर्वासन के पश्चात् केन्द्र सरकार ने सारनाथ में केन्द्रीय तिब्बती उच्च अध्ययन संस्थान स्थापित किया। करमापा सामदोंग रिन्पोछे उसके प्रथम निदेशक बने जो बाद में निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री भी हुए। उनके नेतृत्व में देश-विदेश के बौद्ध विद्वान् उस संस्थान से जुड़े और वहाँ से महायान बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। बीते हुए कल और कतिपय आज भी सक्रिय बौद्ध विद्वानों में डॉ. हरीसिंह गौर (स्प्रिट ऑफ बुद्धिज्म), भदन्त आनन्द कौशलयायन, राहुल सांकृत्यायन, शान्ति भिक्षु शास्त्री (महायान), विश्वनाथ चटर्जी, आचार्य नरेन्द्रदेव (बौद्ध धर्म दर्शन), सत्कड़ी मुखर्जी (फिलॉसफी ऑफ यूनीवर्सल फ्लक्स), जी.सी. पाण्डे (बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास), आर.सी. पाण्डेय, के. वेंकटरमण, हर्षनारायण, ए.के. चटर्जी (योगाचार आईडियलिज्म), जगन्नाथ उपाध्याय, महेश तिवारी, काशीनाथ उपाध्याय, रामशंकर त्रिपाठी (सौत्रान्तिक दर्शन), एन.एच. साम्तानी, (बुद्धिस्ट एपिस्टेमोलॉजी) इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

इस पहल के तत्काल बाद इस देश में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और अहिंसा के मूल्यबोध के साथ गाँधी-अध्ययन को बहुत बढ़ावा मिला। अहमदाबाद स्थित गुजरात विद्यापीठ इसका प्रमुख अकादमिक केन्द्र बना। भारतीय विश्वविद्यालयों में गाँधी अध्ययन संस्थान, विभाग और केन्द्र खोले गये। सस्ता साहित्य मण्डल की दिल्ली में स्थापना हुई ताकि गाँधी-साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार हो सके। डॉ. रामजी सिंह (भागलपुर) और आर.सी. प्रधान (दिल्ली) जैसे लोगों ने गाँधी-दर्शन के उन्नयन हेतु अपना जीवन ही समर्पित किया।

द्रष्टव्य है कि प्रो. डी.एम. दत्त ने 1950 में समकालीन भारतीय दर्शन के स्वरूप पर एक दृष्टिवादक टिप्पणी की थी कि तथाकथित समकालीन भारतीय दर्शन या तो पाश्चात्य प्रभाव में की गई दार्शनिक पुनर्रचना है अथवा यह यूरोपीय दर्शन का एक विशिष्ट प्रकार से विस्तार है *चीफ करेण्ट्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी*। हमारी दृष्टि में प्रो. दत्त की यह टिप्पणी सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि अर्द्धसत्य

है और इसीलिए स्वातन्त्र्योत्तर युग के दार्शनिक अध्ययनसाय में इसे अक्सर खारिज ही किया जाता रहा है।

1925 में 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' की स्थापना हुई थी। यह दार्शनिकों का एक ऐसा संगठन है जो औपनिवेशिक युग से लेकर अब तक अंग्रेजी माध्यम से भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विकास के लिए सक्रिय रहा है। 1950 में इस संस्था के रजत जयन्ती वर्ष में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' (अमलनेर) के तत्वावधान में एक संगोष्ठी आयोजित हुई। विषय था हैज श्री अरविन्द रेफ्यूटेड मायावाद ? इस परिचर्चा में उस समय के चार मूर्धन्य अध्येताओं ने भाग लिया (इन्द्रसेन, एन.ए. निकम, हरिदास चौधरी और जी.आर. मलकानी)। भारतीय दर्शन के भावी विकास की दृष्टि से इस परिचर्चा को एक 'पाथ ब्रेकिंग इवेन्ट' और इसमें प्रस्तुत किये गये शोध-पत्रों को स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के लिए 'न्यू टेस्टामेंट' कहा जा सकता है। इस परिचर्चा के सभी पत्रों को *इण्डियन फिलॉसफी इन इंग्लिश - फ्रॉम रेनांसो टू इण्डिपेन्डेन्स* में संगृहीत किया गया है।

इन्द्रसेन (1903-1994), जो श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी से स्थायी रूप में सम्बद्ध रहे, ने अपने 'सिम्पोजियम पेपर' में यह दिखाया है कि श्री अरविन्द के लीलावाद में प्राचीन वेदान्त का मायावाद स्वतः सत्तावाद में रूपान्तरित हो जाता है, और इस तरह मायावाद श्री अरविन्द के दर्शन में अपने आप आपाततः खण्डित हो जाता है। श्री अरविन्द ने अपने *लाईफ डिवाइन* (1949) में एक समग्र और मूर्त अद्वैत को उपस्थापित किया है जिसमें जड़ (मैटर) और चेतना (स्परिट) का एकान्वयन घटित होता है। 'अनन्त के तर्क' को आधार में रखते हुए उन्होंने स्पष्ट ही प्रतिपादित किया है कि अतिमानस की विकासावस्था में सगुण और निर्गुण की एकता स्वयं अनुभूति के धरातल से प्रमाणित होती है।

मैसूर के प्रो. एन.ए. निकम (1903-1974) शंकर के विवर्तवाद और श्री अरविन्द के आविर्भाववाद में अन्तर करते हैं। उन्होंने श्री अरविन्द को उद्धृत किया है जहाँ वे 'मा' धातु से निष्पन्न माया का अर्थ मापन, परिच्छेदन और भ्रम अथवा धोखा के अर्थ में लेते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार वस्तुतः मायावाद में 'माया' शब्द दूसरे अर्थ अर्थात् भ्रम या धोखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रो. निकम अन्ततः इस बात को उद्घाटित करते हैं कि श्री अरविन्द के दिव्य-जीवन दर्शन में और अद्वैत वेदान्त के मायावाद में मूलाविद्या की भूमिका एक ही जैसी है अर्थात् वह जागतिक नानात्व का हेतु है। इस तरह वास्तव में श्री अरविन्द के दर्शन में दो प्रकार के तर्क का ऐसा द्वैधीकरण है कि अन्ततः उनके दर्शन में मायावाद अनिराकृत ही रह जाता है।

हरिदास चौधरी (1913-1975, कलकत्ता) यह स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व का स्वरूप ऐसा है कि उसमें एक गहन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के साथ मायावाद के

लिए अवकाश रहता ही है। अतः उसे अन्तिम रूप से निरस्त नहीं किया जा सकता। श्री अरविन्द का दर्शन वस्तुतः मायावाद के अतिक्रमण का, अज्ञान-प्रहाण, का दर्शन है।

जी.आर. मलकानी (1892-1977), जो कि इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी, अमलनेर के स्थायी निदेशक थे और तर्कसम्मत अद्वैत वेदान्त के प्रबल समर्थक भी रहे, ने बेबाक शब्दों में प्रतिपादित किया है कि श्री अरविन्द मायावाद का खण्डन नहीं करते हैं। उनके अनुसार एकात्मक अनुभव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नहीं किया जा सकता। स्वयं शंकर के लिए और मलकानी के लिए भी सत्ता एक और अद्वैत ही है। तथाकथित अनन्त का तर्क अविरोध के नियम को निरस्त नहीं कर सकता। वस्तुतः मायावाद ही अद्वैतवाद के सर्वथा निर्दुष्ट और सुसंगत स्वरूप को प्रस्तुत करता है जहाँ किसी भी प्रकार के तत्त्वमीमांसीय द्वैत के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। देखा जाय तो मलकानी का यह बेबाक विरोध शंकर के अद्वैतवाद के प्रति उनकी गहरी निष्ठा का परिचायक है। *फिलॉसफी ऑफ स्केफ* (1939) और *मेटाफिजिक्स ऑफ अद्वैत* (1961) जैसी कृतियों से उनकी यह निष्ठा प्रमाणित भी होती है।

यहाँ 1950 में आयोजित परिचर्चा को उद्धृत करने का प्रयोजन इतना ही दिखाना है कि भारतीय परम्परा में दर्शन का विकास 'वाद' प्रक्रिया के द्वारा होता रहा है और उसकी निरन्तरता आज भी आधुनिक पदावली और आधुनिक प्रभावों को आत्मसात् करते हुए कायम है। जिस तरह श्री अरविन्द के दर्शन को सन्दर्भ बना कर स्वातन्त्र्योत्तर युग के इन चार दार्शनिकों ने अपने-अपने पक्षों को रखा है उसे देखकर वेदान्त देशिक (1268-1369) कृत *शत दूषणी* और अनन्तकृष्ण शास्त्री (अव. 1946) कृत 'शत भूषणी' के बीच के वाद-प्रतिवाद का स्मरण में आना स्वाभाविक ही है। सम्प्रति श्री अरविन्द के दर्शन में न्यूनाधिक दखल रखनेवाले विद्वानों में रामशंकर मिश्र, मधुसूदन रेड्डी, उमेशचन्द्र दुबे, अंजनी कुमार सिंह, विजयकान्त दुबे इत्यादि प्रमुख हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन (1893-1963), जिनका पूर्व नाम केदार पाण्डेय था, स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ऐसे बहुविज्ञ और बहुआयामी प्रतिभा के धनी रहे कि उनके योगदानों को ज्ञान की किसी एक विधा में बाँधा नहीं जा सकता। वे जितने बड़े इतिहासज्ञ थे उतने ही बड़े भाषाविद् और पुरातनवेत्ता भी थे। दर्शन, साहित्य और संस्कृति विषयक उनके ज्ञान का तो कोई पारावार ही नहीं था। प्रतीकात्मक रूप से *दर्शन-दिग्दर्शन* (1961) नामक उनकी एक कृति से उनके दार्शनिक अध्ययनसाय का अन्दाजा लगाया जा सकता है। मध्य एशिया और तिब्बत की गुफाओं में जाकर उन्होंने बौद्ध दर्शन की पाण्डुलिपियों का जिस प्रतिबद्धता के अन्वेषण किया और के. पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना का सहयोग पाकर उनका पुनरुद्धार किया, उसी के परिणामस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बौद्ध दर्शन और बौद्ध न्याय को प्रगत अध्ययन की एक आधारभूमि प्राप्त हुई है।

मानवेन्द्रनाथ राय (1887-1954), जिनका पूर्व नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था, भी राहुल सांकृत्यायन के समकालीन मौलिक मानववादी विचारक थे। मनुष्य की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और गरिमा के पोषक के रूप में एम.एन. राय ने *रैडिकल ह्यूमेनिस्ट* नामक पत्रिका का सम्पादन करते हुए मानववादी चिन्तन का देशव्यापी प्रचार-प्रसार किया। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि कोई भी सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब उसके मूल में एक सांस्कृतिक आन्दोलन की सक्रिय भूमिका हो। उनकी दृष्टि में नैतिकता पर आधारित प्रजातंत्र को ही सही अर्थों में लोकतंत्र कहा जा सकता है। 'रीजन, रोमान्टिसिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन' (1952) एवं *न्यू ह्यूमनिज़्म* (1961) उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ हैं जिनमें उनके मौलिक विचार प्रखरता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं।

भारतीय दर्शन का औपनिवेशिक युग किस तरह स्वातन्त्र्योत्तर युग में रूपान्तरित होता है और इस नये युग में वह किस प्रकार का स्वरूप ग्रहण करता है, इसकी एक झलक हमें 'कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी' नामक ग्रन्थ के दूसरे परिवर्द्धित संस्करण में देखने को मिलती है। राधाकृष्णन् और म्योरहेड ने इनका सम्पादन किया था। यह ग्रन्थ स्वातन्त्र्यपूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की दशा-दिशा को प्रस्तुत करनेवाला एक पहलकारी प्राथमिक और प्रामाणिक प्रयास था। इसके प्रथम संस्करण में (1936) गांधी, टैगोर, स्वामी अभेदानन्द, के.सी. भट्टाचार्य, जी.सी. चटर्जी, आनन्द कुमारस्वामी, भगवानदास, एस.एन. दासगुप्ता, हीरालाल हलधर, एम. हिरियन्ना, एस. राधाकृष्णन्, आर.डी. राणाडे, बी. सुब्रह्मन्यम् अय्यर और ए.आर. वाडिया जैसे दार्शनिकों के आलेख सम्मिलित किये गये थे। इसका जब दूसरा परिवर्द्धित संस्करण (1952) निकला तो उसमें ग्यारह दार्शनिकों के और आलेख सम्मिलित किये गये। वे हैंहरिदास भट्टाचार्य, एन.जी. डाम्ले, रासबिहारी दास, डी.एम. दत्त, हुमायूँ कबीर, एस.के. मैत्र, जी.आर. मलकानी, ए.सी. मुखर्जी, टी.आर.वी. मूर्ति, पी.टी. राजू और एम.एम. शेरीफ। द्रष्टव्य है कि इस ग्रन्थ के दोनों भागों में जिन दार्शनिकों के आलेखों को तत्कालीन दार्शनिक अध्यवसाय के नमूने के तौर पर प्रस्तुत करने के लिए सम्मिलित किया गया, उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में वैसे आलेख आते हैं जिन्हें उन दार्शनिकों ने वैदिक परम्परा के दर्शनों की अपने आजीवन अध्यवसाय के आधार पर तद्विषयक अपनी समझ को प्रस्तुत किया है। दूसरे वर्ग के आलेखों में अन्तर्वस्तु तो परम्परागत भारतीय दर्शनों से ही ली गई है लेकिन उनकी व्याख्या, विश्लेषण और तुलना पाश्चात्य दर्शन और उसकी आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में की गई है। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि एक समय भारतीय विद्वानों के दार्शनिक अध्यवसाय में तुलनात्मक दर्शन को चरितार्थ करने की प्रवृत्ति इस तरह हावी हो गई थी कि ऐसा करना दार्शनिक अध्यवसाय का पर्याय बन गया था, लेकिन कुछ ही भारतीय विद्वानों के हाथों यह उचित रूप में क्रियान्वित किया गया

और उनके प्रयास से भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन के बीच की अन्तःपदीय समझदारी बढ़ी। परन्तु अधिकांश के द्वारा किये गये तुलनात्मक प्रयासों से भारतीय दर्शन उन्मीलित न होकर अन्ततः उन्मूलित ही हुआ है। हमारे देश के दार्शनिकों का पाश्चात्य-दर्शन विषयक समृद्ध ज्ञान यदि भारतीय दर्शन के उन्नयन में फलित न हो कर अपनी ही परम्परा के प्रति हीन भावना पैदा करने में सहायक हो तो ऐसे दार्शनिक अध्यवसाय को विकास नहीं विकार ही कहा जायेगा।

इस प्रसंग में यहाँ हम अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् की स्थापना को भी संज्ञान में लेना आवश्यक समझते हैं। यह परिषद् वास्तव में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का एक नया और महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसकी स्थापना के पीछे कई एक महत्त्वपूर्ण लोग रहे लेकिन उनमें स्थापकीय महत्त्वपूर्ण भूमिका श्री यशदेव शल्य की रही। द्रष्टव्य है कि 'हिन्दी' एक भाषा के रूप में नहीं बल्कि जातीय-स्मृति और सांस्कृतिक मूल्यबोध के साथ राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्राणदा शक्ति भी थी। इसी व्यापक उद्देश्य को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भाषीय राजपथ पर चलते हुए वैचारिक स्वराज और भारत को उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करने के संकल्प के साथ इस परिषद् की स्थापना हुई थी। इस परिषद् के मुखपत्र के रूप में *दार्शनिक त्रैमासिक* पत्रिका का परिषद् की स्थापना के साथ ही 1954 से प्रकाशन प्रारम्भ किया गया और परिषद् का प्रथम वार्षिक अधिवेशन 1956 में इलाहाबाद में हुआ। यह परिषद् आज भी अपने आत्मचेतन संकल्प के साथ अपने उद्देश्य-पथ पर अग्रसरित है। हिन्दी माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दार्शनिक अध्यवसाय को प्रतिनिधित्व देते हुए परिषद् ने दो दर्जन से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन किया है जिसमें के. सच्चिदानन्द मूर्ति द्वारा *समकालीन भारतीय दर्शन* (1962) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राधाकृष्णन् और म्योरहेड के ही तर्ज पर इस पुस्तक में सम्पूर्णानन्द, एन.एस. द्राविड़, ब्रज गोपाल तिवारी, संगमलाल पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, आर.के. त्रिपाठी, एस.एस. बारलिंगे, जे.आर.एल.एस. नारायण मूर्ति, चन्द्रशेखर राय और के.एस. मूर्ति के आलेख सम्मिलित किये गये थे।

इसी क्रम में परिषद् के तत्त्वावधान में 'स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण' के अन्तर्गत अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित *समेकित दार्शनिक विमर्श* (2005), *समेकित अद्वैत विमर्श* (2005), *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष* (2006) और *समेकित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा* (2012) भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये चारों ग्रन्थ वैचारिक स्वराज के भाषीय राजपथ पर हिन्दी माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक अध्यवसाय की यदि सम्पूर्ण प्रतिमा नहीं तो उसकी आवक्ष प्रतिमा अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में दर्शनशास्त्र को प्रोन्नत करने के लिए सरकारी तौर पर यद्यपि छोटे-बड़े अनेकों प्रयास किये गये लेकिन 1964 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा दर्शन के तीन उच्चानुशीलन अध्ययन केन्द्रों (वाराणसी, मद्रास और विश्वभारती) की स्थापना महत्त्वपूर्ण कदम था। इन केन्द्रों के द्वारा संचालित अकादमिक

उपक्रमों एवं प्रकाशनों से इस देश के दार्शनिक वातावरण को एक गति मिली। इसी दौरान केन्द्र सरकार की पहल पर मानविकी और सामाजिक विज्ञानों को बढ़ावा देने के लिए 1965 में राष्ट्रपति निवास, शिमला को 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडी' (भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान) के रूप में स्थापित किया गया। इस संस्थान ने भी दर्शन के विकास को सदैव बढ़ावा दिया है। यहाँ से प्रकाशित कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उस संस्थान की दार्शनिक ऊष्मा को बखूबी अभिव्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त विवरण में हमने प्रायः स्वतन्त्रता के पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशित कार्यों को ही सन्दर्भित किये हैं परन्तु इस काल में कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं जो प्रकाशित नहीं हैं। ऐसे कार्यों में अधिकांशतः विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के स्वत्वाधिकार में हुए पी-एच्.डी. शोध-प्रबन्धों को रखा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि 1974 में मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा *इण्डेक्स टू डिजरटेशन्स इन फिलॉसफी* प्रकाशित किया गया था जिसमें 1135 शोध-प्रबन्धों को सूचीबद्ध किया गया है। पुनः, पुणे विश्वविद्यालय द्वारा प्रो. एस.एस. बारलिंगे के नेतृत्व में *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ कम्प्लीटेड रिसर्च वर्क इन फिलॉसफी इन इण्डियन यूनीवर्सिटीज़* प्रकाशित किया गया जिसमें लगभग 50 विश्वविद्यालयों में 1980 तक हुए शोध-कार्यों को सन्दर्भित किया गया है।

इस खण्ड में हम स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक अध्यवसाय को संकेतित करने के लिए वैसे अध्येताओं की पहल और योगदानों को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे जिनका चिन्तन बीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण के आस-पास तक एक स्वरूप ग्रहण कर चुका था। इस काल-खण्ड का विस्तार 21वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक कर लेना भी उचित ही होगा ताकि साम्प्रतिक रूप से कुछ नवोदित अध्येताओं को भी सन्दर्भित किया जा सके। आइए, हम एक दूरदर्शी शिक्षक (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति (1902-1986) से ही इस परिच्छेद का आरम्भ करें।

प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति (1902-1986) अपने समय के सर्वथा प्रामाणिक और परिनिष्ठित अध्येता थे। उनकी अध्येतृता को परम्परा और आधुनिकता, पूरब और पश्चिम का सेतुबन्ध कहा जा सकता है। उनकी विशेष अभिरुचि माध्यमिक दर्शन, काण्ट और भाषा-दर्शन में रही लेकिन अपने दार्शनिक अध्यवसाय को उन्होंने माध्यमिक दर्शन की पुनर्चना, उसकी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ, करने में चरितार्थ किया है। 1955 में प्रकाशित उनकी कृति 'दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म' के माध्यम से दार्शनिक विचारों के विश्व-इतिहास में नागार्जुन को उसकी सम्पूर्ण प्रभाववत्ता और मूलगामिता के साथ प्रतिष्ठा मिली है। प्रो. मूर्ति के लिए माध्यमिक दर्शन का आन्तरिक मूल्य बौद्ध दर्शन के एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं बल्कि 'क्रिटिक ऑफ ऑल फिलॉसफीज़' के रूप में है। माध्यमिक दर्शन की ऐसी व्याख्या पर यह आरोप भी लगाया गया कि प्रो. मूर्ति ने अद्वैत वेदान्त की छाया में माध्यमिक दर्शन को

पुनर्रचित किया है। यह आरोप यदि सही हो तो भी प्रो. मूर्ति की व्याख्या अपने आप में आद्यन्त रूप से सुसंगत और पूरी दुनियाँ में अपने बल पर अकेले खड़ी है। 'दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म' के प्रकाशित होने के पश्चात् बौद्ध अध्येतृता का विश्व-समुदाय विरोध या समर्थन में प्रो. मूर्ति की अनदेखी नहीं कर सका।

वैसे तो प्रो. मूर्ति ने काण्ट के दर्शन को लक्ष्य करके कुछ नहीं लिखा है लेकिन 'अज्ञान' नामक पुस्तक (1933), जो जी.आर. मलकानी और रासबिहारी दास के साथ मिलकर लिखी गयी थी, उसमें अद्वैत वेदान्त सम्मत अविद्या की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए उन पर काण्ट के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रो. मूर्ति ने दर्शन की आधुनिक पदावली में अविद्या की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए यह दिखाया है कि "अज्ञान विषयक दार्शनिक अन्वीक्षा वास्तव में कुछ नहीं बल्कि ज्ञान के प्रागनुभविक स्थितियों और हेतुओं की खोज है।" (*अज्ञान*, पृ. 122, लुजेक एण्ड कम्पनी, लंदन, 1932)

इसी तरह अद्वैतवादी दर्शनों के अनन्तार्थव्य वैकल्पिक प्रारूपों की गवेषणा भी प्रो. मूर्ति के दार्शनिक अध्यवसाय का महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहा है। यद्यपि इसकी शुरुआत के.सी. भट्टाचार्य से होती है लेकिन उनकी इस अन्तर्दृष्टि को अपने में स्वायत्त कर प्रो. मूर्ति ने अपने लेख *नोविंग, विलिंग एण्ड फिलिंग एज़ फंक्शन्स ऑफ कॉन्शसनेस* (1934) एवं अन्य प्रकीर्ण लेखनों के माध्यम से जिस तरह आगे बढ़ाया है उसे पाश्चात्य परम्परा की फैक्टली साइकोलॉजी की आलोचना से उपजा अद्वैतवादी दर्शनों की मूलगामी समझ के प्रति एक मौलिक और सार्वभौमिक दार्शनिक पुनर्रचना से अभिहित किया जा सकता है।

भाषा-दर्शन के क्षेत्र में प्रो. मूर्ति ने बहुत कुछ नहीं लिखा है लेकिन उनका एक ही आलेख जो कि 'इण्डियन फिलॉसफिकल कॉंग्रेस' (1963) में दिया गया अध्यक्षीय भाषण था (एस.पी. दुबे, *फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी*, भाग 3) वही उन्हें एक भविष्य भाषा दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। प्रो. मूर्ति के अनुसार भाषा का दर्शन वास्तव में दर्शनशास्त्र की एक शाखा ही नहीं बल्कि अपने आप में सम्पूर्ण दर्शन है और भारतीय चिन्तन में बहुत कुछ ऐसा है जिसके द्वारा वैश्वीय भाषा दार्शनिक चिन्तन को वह अपना मौलिक योगदान कर सकता है। उनका यह व्याख्यान प्रकाशित होने के पश्चात् भारतीय भाषा दार्शनिक अध्यवसाय के लिए नवीन पथ या 'पाथ ब्रेकिंग' सिद्ध हुआ और इसके द्वारा भाषा-दर्शन के क्षेत्र में भारतीय दृष्टि से कार्य करने की एक जबरदस्त उत्प्रेरणा पैदा हुई। इसके अतिरिक्त प्रो. मूर्ति के सम्पूर्ण लेखन में *दी फिलॉसफी ऑफ स्पिरिट* (राधाकृष्णन् और म्योरहेड द्वारा सम्पा. *दी कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी* के दूसरे भाग में संगृहीत) एवं *दी कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी* (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय दर्शन-सीरीज़ में प्रकाशित *दी कॉन्सेप्ट ऑफ*

फिलॉसफी) को उनकी 'निज दार्शनिक निष्ठा' का परिचायक लेखन कहा जा सकता है।

यहाँ के.एम. पणिक्कर (दी फाउण्डेशन ऑफ न्यू इण्डिया, 1963) की उस टिप्पणी का उल्लेख करना प्रासंगिक प्रतीत होता है, जहाँ वे कहते हैं कि भारतीय विश्वविद्यालयों से कोई ऐसा दार्शनिक पैदा नहीं हुआ जिसने परम्परागत चिन्तन अथवा आधुनिक चिन्तन-प्रक्रिया में कोई विशिष्ट योगदान किया हो। वास्तव में गतानुगतिक रूप से ऐसी टिप्पणी करते हुए यह सम्भव है कि पणिक्कर साम्प्रतिक दार्शनिक अध्येतृता से पूरे तौर से परिचित न रहे हों। प्रो. मूर्ति का ऊपर उद्धृत केवल एक आलेख उनकी टिप्पणी को खारिज करने के लिए पर्याप्त है। इस सन्दर्भ में हुमायूँ कबीर (1906-1969) के विश्वोन्मुखी चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में परम्परा और नवोन्मेषी प्रगतिशीलता के मध्य सामंजस्य की स्थापना के उनके प्रयासों की अनदेखी कैसे की जा सकती है? इतना ही नहीं, पणिक्कर अपने ही आस-पास पी.टी. राजू (1903-1993) के दार्शनिक अध्यवसाय का आकलन नहीं कर सके। अपने समय में पी.टी. राजू पारम्परिक भारतीय दार्शनिक चिन्तन की आधुनिकोन्मुखी व्याख्या करनेवालों में अग्रणी थे। इस प्रकार की व्याख्या का मानक रूप *आइडियलिस्टिक थॉट ऑफ इण्डिया* (1953), *थॉट एण्ड रियलिटी* (1957) और *इण्डियन आइडियलिज्म एण्ड मॉडर्न चैलेंजेज़* (1961) नामक कृतियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पी.टी. राजू को 'तुलनात्मक दर्शन' की स्वतन्त्र विधा के प्रणेता रूप कुछ इने-गिने व्यक्तियों में परिगणित किया जा सकता है। उनकी *इन्ट्रोडक्शन टू कम्परेटिव फिलॉसफी* (1962) इस विधा की प्राथमिक संस्थापक कृतियों में एक है।

इन्हीं दिनों में कालिदास भट्टाचार्य (1911-1984) एक विलक्षण दार्शनिक प्रतिभावाने अपने ढंग के बिलकुल अलग प्रकार के अध्येता थे। इनकी दार्शनिक चेतना किसी वाद या सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध न होकर इस अर्थ में स्वतन्त्र थी कि उन्होंने मनुष्य की चेतना में निहित वैकल्पिक तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्तियों की वैकल्पिकता का दार्शनिकीकरण करते हुए एक तरह से उसकी ही तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की है। इसका बीज उन्हें अपने पिता कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के *एक्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव स्टैंडप्व्वाइन्ट* में प्राप्त हुआ था लेकिन उसे इन्होंने *अल्टरनेटिव स्टैंडप्व्वाइन्ट इन फिलॉसफी* के रूप में विकसित किया है। कालिदास भट्टाचार्य के सम्पूर्ण दार्शनिक अध्यवसाय को मनुष्य के वैकल्पिक दार्शनिक अभिनिवेश का भाष्य और उनके दर्शन को 'वैकल्पिक दार्शनिकता का तर्कशास्त्र' कहा जा सकता है। अपने इस दार्शनिक अभिगम को उन्होंने अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र अद्वैत वेदान्त, माध्यमिक दर्शन और जैन दर्शन के अनेकान्तवाद पर जिस तरह से लागू किया है उसे एक सर्वथा मौलिक और सार्वभौमिक दार्शनिक पुनर्रचना से अभिहित किया जा सकता है। मनुष्य के स्वरूप, स्वतन्त्रता और उसकी धार्मिक, वैज्ञानिक चेतना के सम्बन्ध में भी उन्होंने

मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। भट्टाचार्य की बहुविध रचनाओं में *अल्टरनेटिव स्टैंडप्व्वाइन्ट इन फिलॉसफी* (1953), *प्रीसपोजिसन ऑफ साइन्स एण्ड फिलॉसफी एण्ड अदर एस्सेज* (1974), *पॉसिबिलिटी ऑफ डिफरेंट टाइम्स ऑफ रेलिजन* (1975), *दी इण्डियन कॉन्सेप्ट ऑफ मैन* (1982) तथा बंगला में *भारतीय संस्कृति ओ अनेकान्त वेदान्त* (1982) प्रमुखतम हैं।

पारम्परिक भारतीय दर्शन के क्षेत्र में के.एम. पणिक्कर की टिप्पणी को झुठलाने के लिए टी.एम.पी. महादेवन् के दार्शनिक अध्यवसाय को सन्दर्भित किया जा सकता है। महादेवन् (1911-1983) वेदान्त दर्शन के पारंगत और निष्ठावान् अध्येता थे। आधुनिक युग में उन्हें 'मद्रास स्कूल ऑफ वेदान्त स्टडीज' के संस्थापक-आचार्य से महिमामण्डित किया जा सकता है। *गौड़पादः ए स्टडी इन अर्ली अद्वैत* (1954) के माध्यम से उन्होंने पं. विधुशेखर भट्टाचार्य सरीखे व्यक्तियों द्वारा फैलाई गई इस भ्रान्ति का भाजन किया है कि शंकराचार्य के दादागुरु गौड़पाद ने मौटे तौर पर सब कुछ नागार्जुन की माध्यमिक कारिका से ले लिया है। उन्होंने हरमेन्युटिक्स और फिलोलॉजी की पद्धति से यह दिखाया है कि गौड़पाद द्वारा प्रयुक्त पदावलिियाँ बौद्ध परम्परा की एकल सम्पत्ति नहीं बल्कि परम्परा की सम्पदा हैं जिन पर किसी का एकाधिकार नहीं। *दी फिलॉसफी ऑफ अद्वैत* (1957), *आउट-लाइन्स ऑफ हिन्दूइज्म* (1956) और *टाइम एण्ड टाइमलेस* इत्यादि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त *दी बिल्डर्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी सीरीज* (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्) के अन्तर्गत टी.एम.पी. महादेवन् पर केन्द्रित आर. बालसुब्रह्मण्यम् की पुस्तक उनके पारम्परिक दार्शनिक अध्यवसाय को बखूबी उद्घाटित करती है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में नन्दकिशोर देवराज (1917-1999) एक ऐसे सशक्त चिन्तक रहे हैं जिन्होंने अपने दार्शनिक अध्यवसाय को आजीवन मानववादी चिन्तन को समर्पित किया था। मनुष्य के आत्मचेतन उत्पाद होने में निहित उसकी स्वतन्त्रता, तर-तम-भाव और मूल्यान्वेषी प्रकृति को आधारभूत मानकर उन्होंने जिस प्रकार के मानववादी चिन्तन को उद्घाटित किया है उसे 'सर्जनात्मक मानववाद' से अभिहित किया जाता है। देवराज का सर्जनात्मक मानववाद एक ओर मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के तत्त्वमीमांसीय लंगर से कटा हुआ है तो दूसरी ओर मूल्य-सर्जक और मूल्यसेवी रूप में महज मानवकेन्द्रित नहीं, जहाँ संघर्ष और विरोध उसके प्रकृतिजयी स्वरूप में ही निहित होता है। *दी फिलॉसफी ऑफ कल्चर : ऐन इन्ट्रोडक्शन टू क्रियेटिव ह्यूमनिज्म; ह्यूमनिज्म इन इण्डियन थॉट; फ्रीडम, क्रियेटिविटी एण्ड वैल्यू : दी लिमिट्स ऑफ डिसएग्रीमेन्ट* इत्यादि रचनाओं में देवराज के सर्जनात्मक मानववाद का विकसित रूप एक स्वतन्त्र प्रस्थान के रूप में सामने आया है।

इस काल में भारतीय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध और भी अनेकों अध्येताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं जिन्होंने वैयक्तिक और संस्थागत स्तर पर स्वातन्त्र्योत्तर

भारत में दर्शन के विकास को प्रभावित किया है। वस्तुतः किसी चिन्तन-परम्परा को पुरोगामी विकासोन्मुख आयाम प्रदान करना ही सही अर्थों में विकास होता है। लेकिन परम्परागत चिन्तन को अपने अध्यवसाय से गतिशील और जीवन्त बनाये रखना भी उसके प्रति कम महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं होता। स्वातन्त्र्योत्तर युग के ऐसे अध्येताओं में निम्नलिखित का उल्लेख प्रमुखता से लिया जा सकता है।

भुवनेश्वर के गणेश्वर मिश्र (1917-1985) अपने समय के जाने-माने अध्येता थे। ए.जे. एयर के शिष्य के रूप में इन्होंने *सोर्स ऑफ मोनिज्म इन शंकर एण्ड ब्रैडले* विषय पर लंदन से पी-एच.डी. की उपाधि (1955) में प्राप्त की थी। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन की पद्धति का भरपूर उपयोग करते हुए *स्टडीज इन अद्वैत वेदान्त* (1976) उनकी प्रसिद्ध कृति है।

रमाकान्त त्रिपाठी (1918-81) जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में टी.आर.वी. मूर्ति के शिष्य रहे, उनका झुकाव वेदान्त दर्शन और उसमें भी शांकर वेदान्त की ओर अधिक था। दर्शन की आधुनिक समस्याओं पर अद्वैत वेदान्त के पक्ष को मजबूती से रखने की क्षमता उनमें अद्भुत थी। उनके लिए अद्वैत वेदान्त की विचार-प्रक्रिया *दर्शन की अवधारणा* का पर्याय जैसी थी। *प्रॉब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रिलीजन* (1971) नामक संकलन में यह सब कुछ प्रांजल सम्प्रत्ययात्मक स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। त्रिपाठी का पहला महत्त्वपूर्ण कार्य *स्पिनोजा इन दी लाइट ऑफ वेदान्त* 1958 में ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ था।

सुरेन्द्र सदाशिव बारलिंगे (1919-1997) ने पुणे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए अंग्रेजी, हिन्दी और मराठी तीनों ही भाषाओं में आधुनिकोन्मुख दार्शनिक लेखन के द्वारा भारतीय दर्शन को बढ़ावा दिया है। *ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन लॉजिक* (1965) नामक पुस्तक में उन्होंने भारतीय तर्कविद्या को आकारिक तर्कशास्त्र की पदावली और तौर-तरीके से प्रस्तुत किया है। इसी तरह भारतीय नीतिशास्त्र और भारतीय दर्शन को आधुनिक पदावली में प्रस्तुत करनेवाले उनके ग्रन्थ *ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन एथिक्स* (1997) और *री-अण्डरस्टैंडिंग इण्डियन फिलॉसफी* (1998) हैं। बारलिंगे का एक विशिष्ट योगदान 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र' के क्षेत्र में भी रहा है। वे उन प्राथमिक व्यक्तियों में रहे हैं जिन्होंने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की पहले-पहल रूपरेखा प्रस्तुत की है।

चन्द्रधर शर्मा (1920-2004), जो पहले काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और बाद में जबलपुर से सम्बद्ध रहे, एक ख्यातनामा शिक्षक और भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों के सिद्धस्थ व्याख्याकार थे। उनके द्वारा लिखी गई पहले अंग्रेजी में *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* (1952) और बाद में उसका परिवर्द्धित हिन्दी संस्करण (1990) आज भी भारत के विद्यार्थियों के द्वारा सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला ग्रन्थ है। *डायलेक्टिक ऑफ बुद्धिज्म एण्ड वेदान्त* तथा *दी अद्वैतिक ट्रेडिशन इन इण्डियन*

फिलॉसफी (1996) नामक ये दोनों ग्रन्थ उनके अद्वैतवादी अध्यवसाय के प्रांजल पक्ष को प्रस्तुत करते हैं।

नागपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नारायण शास्त्री द्रविड़ (1923-2010), जो अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में न्यूजीलैण्ड में बस-से गये थे, अपने समय के भारतीय प्रमाणशास्त्र, नव्यन्याय और अद्वैत वेदान्त के परिष्कर्ता विद्वान् थे। भारतीय तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र की समस्याओं की विशिष्टता को पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र के समक्ष उपस्थापित करनेवालों में उनका तो कोई शानी नहीं था। उन्होंने भारतीय प्रमाणशास्त्र के प्रगत स्वरूप को मराठी भाषा में प्रस्तुत किया है (2009)। इसके अतिरिक्त नव्यन्याय की 'पक्षता' पर आई.सी.पी.आर. से 2007 में प्रकाशित उनकी एक विशिष्ट कृति है। उन्होंने *न्यायकुसुमांजलि* और *आत्मतत्त्वविवेक* का अंग्रेजी में मानक अनुवाद भी किया है। *भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्यायें* (2009) शीर्षक से अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् ने उनके प्रकीर्ण हिन्दी लेखन को प्रकाशित किया है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय (1923-2011) स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सर्वाधिक मान्य और प्रतिष्ठित अध्येता रहे हैं। उन्होंने आजीवन इतिहास, दर्शन और संस्कृति जैसे विषयों पर अपनी लेखनी से महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप किया है। उनकी सम्पूर्ण विचार-साधना समवेत रूप से *संस्कृति-दर्शन* के रूप में फलित हुई है। पाण्डेय के संस्कृति-दर्शन पर हीगेल के इतिहास-दर्शन, बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवाद और श्री अरविन्द के मानवचक्र-सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। लेकिन उसकी अन्तिम परिणति भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आत्मानुसंधानपरक विराट मूल्यबोध में होती है। उनकी बहुविध रचनाओं में मुख्य रूप से *फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन; दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर; कॉन्सियसनेस वैल्यू कल्चर और मूल्य-मीमांसा, भारतीय परम्परा के मूल स्वर तथा शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ* जैसी कृतियाँ उन्हें 20वीं सदी के विश्वस्तरीय संस्कृति-दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं। इसके अतिरिक्त *भक्ति दर्शन विमर्श; सौन्दर्य दर्शन विमर्श* तथा *दर्शन विमर्श* (अप्रकाशित) उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में लिखी गई मौलिक कृतियाँ हैं। कुल मिलाकर वे अपने वाङ्मयी व्यक्तित्व में भारत-भारती के असाधारण प्रतिसंस्कर्ता कहे जा सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के लिए भारतीय परम्परा की यह उक्ति कि "मुनीनां उत्तरोत्तर प्रामाण्यम्" चरितार्थ होती है।

के. सच्चिदानन्द मूर्ति (1924-2011) अपने सौम्य व्यक्तित्व, गवेषणात्मक प्रतिभा और प्रगल्भ वाग्मिता के चलते अपने समय के बहुत सम्मानित दार्शनिक रहे। पद्मविभूषण पट्टाभिराम शास्त्री ने 1980 में उन्हें 'नानाशास्त्रप्रक्षालितमतिवैभव' से अभिहित किया था। दार्शनिक समुदाय में उन्हें 'द्वितीय राधाकृष्णन्' माना जाता था। सच्चिदानन्द मूर्ति ने अपने दार्शनिक अध्यवसाय के द्वारा वेदान्त की मूल भावना 'सर्व

खलु इदं ब्रह्म' की धार्मिक चेतना का दार्शनिकीकरण लोक-जीवन के यथार्थ धरातल पर किया है। रेवेलेशन एण्ड रीजन इन अद्वैत वेदान्त (1959), दी रेलम ऑफ बिटविन (1974), अद्वैतिक नोशन (1985), फिलॉसफी इन इण्डिया (1991) और वैदिक हरमैन्स्यूटिक्स (1993) इत्यादि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के एक राजनयिक दार्शनिक के रूप में उन्होंने 'शान्ति का दर्शन' पर महत्वपूर्ण कार्य किया है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के पक्ष को उसकी सम्पूर्ण महिमा के साथ उपस्थापित किया है। 1960 में प्रकाशित उनकी कृति स्टडीज़ इन दी प्रॉब्लेम्स ऑफ पीस दार्शनिक चिन्तन के एक नये क्षेत्र की उद्भावक कृति है। 'एप्रो-एशियन फिलॉसफी' नामक संस्था भी उन्होंने 'प्रगति और शान्ति' के दर्शन को बढ़ावा देने के लिए ही किया था। प्रो. अशोक बोहरा, जिन्होंने राधाकृष्णन् के दर्शन पर सच्चिदानन्द मूर्ति के साथ मिलकर महत्वपूर्ण कार्य किया है और स्वयं भी विट्गेन्स्टाइन के दर्शन के ज्ञाता और उसकी कृतियों के एकमात्र हिन्दी अनुवादक हैं, सम्प्रति सच्चिदानन्द मूर्ति के दार्शनिक योगदानों को प्रकाश में लाने के लिए एक ग्रन्थ सम्पादित कर रहे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग की अर्द्धशताब्दी में दयाकृष्ण (1924-2007) एक ऐसे व्यक्ति रहे जिनकी उत्तेजक दार्शनिक प्रतिभा ने इस देश के दार्शनिक वातावरण को सर्वाधिक प्रभावित किया है। उनके लिए एक दार्शनिक वास्तव में विमर्शात्मक चेतना के धरातल पर जीवन और जगत् की अवधारणात्मक समझ का शिल्पी होता है। यह बात अलग है कि दयाकृष्ण का दार्शनिक शिल्प किसी वाद, सम्प्रदाय और विचारधारा से कभी बँध नहीं पाया। यदि बँधता तो उनकी प्रतिभा और अधिक उत्पादक अथवा पुनरुत्पादक रूप में आकार ग्रहण कर सकती थी। इसलिए उनके प्रति यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि दयाकृष्ण की दार्शनिकता नवोन्मेषी होते हुए भी आस्वादक अधिक और निर्मायक कम थी। तब भी अपनी आस्वादक दार्शनिक वृत्ति के साथ उन्होंने जिस किसी क्षेत्र में हस्तक्षेप किया वह स्थापित विचार की आत्ममुग्धता का भाजन करनेवाला, उसकी नई परतों को उकेरनेवाला और गतानुगतिक विचार-पद्धति की तन्द्रा को तोड़ने वाला सिद्ध हुआ है। प्रारम्भ में वे पाश्चात्य दर्शन के बड़े हिमायती थे लेकिन बाद में उनकी रुचि भारतीय दर्शन की ओर हुई और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को 'प्रॉपर वर्क ऑफ रीजन' की दृष्टि से समझने के प्रयास में उन्होंने भारतीय दर्शन की स्थापित मान्यताओं के संदर्भ में आधारभूत प्रश्न उठाये जो वास्तव में उन पर एक नये ढंग से सोचने और विचार करने की एक नई दृष्टि देता है। 1955 में प्रकाशित उनकी कृति दी नेचर ऑफ फिलॉसफी और दी आर्ट ऑफ कॉन्सेप्चुअल से उनके दार्शनिक गोत्र का पता चलता है। सोशल फिलॉसफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर तथा डेव्हलपमेंट डिबेट : फ्रीड. डब्ल्यू. रीस एण्ड दयाकृष्ण नामक कृतियाँ उनके सामाजिक-आर्थिक दर्शन से सम्बन्धित हैं। प्रोलोगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्ट्रीयोग्राफी ऑफ कल्चर एण्ड सिविलायजेशन में दयाकृष्ण एक सभ्यता-विज्ञानी के रूप में दिखाई

पड़ते हैं। दयाकृष्ण की ऐसी कृतियाँ जिनमें भारतीय दर्शन को पुनःसंगठित और पुनर्रचित करने की प्रश्नाकुलता दिखाई पड़ती है उनमें इण्डियन फिलॉसफी : ए न्यू पर्सपेक्टिव; इण्डियन फिलॉसफी : ए काउण्टर पर्सपेक्टिव; इण्डियाज इनटेलेक्चुअल ट्रेडिशन; भारतीय दर्शन : एक नई दृष्टि : डिस्कशन एण्ड डिबेट इन इण्डियन फिलॉसफी (2005) तथा डेव्हलपमेंट ऑफ इण्डियन फिलॉसफी फ्रॉम 18 सेन्चुरी ऑनवर्ड (2002) प्रमुख हैं। उनकी एक महत्वपूर्ण कृति ए थ्योरी टूवर्ड्स स्ट्रक्चरल एण्ड ट्रान्सेन्डेन्टल इल्यूजन अभी अप्रकाशित ही है। वास्तव में देखा जाय तो पश्चिमी दार्शनिक परम्पराओं का मंथन कर चुकने के बाद दयाकृष्ण का भारतीय दर्शन में प्रवेश एक 'प्राश्निक' के रूप में मानो वैसे ही होता है जैसे वेदों का 'कौत्स' फिर लौट आया हो।

पाश्चात्य दर्शन की भाषा-विश्लेषणवादी परम्परा से अभिभूत और उस पद्धति को अपने में स्वायत्त कर उसे भारतीय परम्परा के धर्मनीति विषयक स्थापनाओं पर लागू करते हुए उनकी पुनर्रचना का दावा करनेवालों में राजेन्द्र प्रसाद (ज. 1926 - पटना एवं आई.आई.टी. कानपुर से सम्बद्ध) अग्रणी रहे हैं। उनके दार्शनिक अध्यवसाय को रेगुलरिटी नोरमेटिविटी एण्ड रूल्स ऑफ लैंग्वेज तथा कर्म, काजेशन एण्ड रिट्रीब्यूटिव मॉरलिटी (2004) जैसी कृतियाँ पूरे तौर से प्रदर्शित करती हैं। भाषा और तार्किक विश्लेषण को दर्शन का धर्म समझनेवाले राजेन्द्र प्रसाद की इस प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष उनके आलेख अन-एण्डिंग डायलॉग विथ गॉड और डायलॉग बिटविन फर्स्ट परसन एण्ड थर्ड परसन (इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली) में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

यशदेव शल्य (ज. 1928) स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सच्चे अर्थों में एक स्वतन्त्र चिन्तक और 'सम्पूर्ण दार्शनिक' हैं। श्री अरविन्द के बाद इस देश में बहुतेरे महत्वपूर्ण व्यक्तियों को 'भारत का दार्शनिक' तो कहा जा सकता है लेकिन एक 'संस्थापक भारतीय दार्शनिक' से केवल यशदेव शल्य को ही अभिहित किया जा सकता है। विश्वविद्यालयीय व्यवस्था से बाहर रहते हुए अपने चिन्तन को भारत के वैचारिक स्वराज और राष्ट्रभाषीय राजपथ पर अग्रसारित करते हुए उन्होंने दर्शन की जो सेवा की है, वह उक्रण्य नहीं है। मानवी स्तर पर आत्मचेतन हुई चेतना को अपने दर्शन का प्रस्थान बिन्दु बनाकर 'मानवीय सर्जना' की तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत करनेवाले यशदेव शल्य 1950 से ही अपने दार्शनिक अध्यवसाय को आकार देने में अद्यतन संलग्न रहे हैं। यह बात अलग है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत का दार्शनिक मानस उनके दार्शनिक अध्यवसाय से अभी भी अपरिचित जैसा ही है। उन्होंने भारत में संस्थागत दार्शनिक उन्नयन के लिए अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् (1954) की स्थापना किया और दार्शनिक त्रैमासिक (1954), तत्त्वचिन्तन (1968), दर्शन समीक्षा (1971) और उन्मीलन (1985 से अद्यतन) जैसी दार्शनिक पत्रिकाओं की अकेले दम पर स्थापना और

सम्पादन भी किया है। यदि किसी पाश्चात्य दार्शनिक से उनकी तुलना की जा सकती है तो वे हुस्सर्ल और हायडेगर के समकक्ष ही ठहरते हैं। अतः हम यहाँ जरूरी समझते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाय।

यशदेव शल्य के अर्द्धशताब्दीय अविचल चिन्तन ने अपने आप में एक सम्पूर्ण तन्त्र का रूप ले लिया है। यद्यपि उनका चिन्तन सर्वथा मौलिक है तथापि एक प्रकार से वे अद्वैत वेदान्त की परम्परा में आते हैं, किन्तु यह परम्परा उनके चिन्तन में आधारभूत रूप से नवीनीकृत हुई है। यशदेव शल्य ने स्वयं ही अपने दार्शनिक प्रस्थान को 'चिद्द्वैतवाद' कह कर अपना आत्मप्रकाशन किया है ('सत् की चिन्मयता' नामक आलेख, उन्मीलन, वर्ष 15, अंक 1, 2001)। उनकी इस दार्शनिक अनुसन्धान यात्रा का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी-तार्किक प्रत्यक्षवादी परम्परा के अन्तर्गत-चिन्तन के साथ हुआ और उन्होंने इसमें *दार्शनिक विश्लेषण* (1961) नामक पुस्तक लिखी। किन्तु उन्हें अनुभववादियों की अनुभव की अवधारणा में कोई युक्तियुक्तता दिखाई नहीं दी। इसके अनन्तर वे इस विचार-परम्परा को छोड़कर 'अवधारणात्मक सापेक्षतावाद' की ओर आये जिसका प्रतिपादन उन्होंने *ज्ञान और सत्* (1967) पुस्तक में किया। परन्तु यह दृष्टि भी उनके लिए अधिक समय तक सन्तोषप्रद नहीं बनी रह सकी। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार किया है कि बाह्य विषय के सम्बन्ध में अवधारणा-सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरह चल सकती है, किन्तु कर्तव्य, आत्मा आदि विषयों के सन्दर्भ में कैसे चल सकती है। इस तरह यशदेव शल्य अपने ही अवधारणा-सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण होकर अपने चिन्तन के दूसरे महत्वपूर्ण सोपान पर पहुँचते हैं जिसे चैत-सापेक्षतावाद से निरपेक्ष चैतन्य में उल्लमण के रूप में समझा जा सकता है। इन दोनों ध्रुवों के मध्य दोलायमान उनके चिन्तन को *विषय एवं आत्म* (1972) नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने एक ओर बाह्य विषय को सापेक्षता से मुक्त कर उसे उसका वस्तुगत आधार लौटाने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर आत्मा को सापेक्ष विषयता से मुक्त कर आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित करने का एक प्रत्ययवादी प्रयत्न किया है। अपने दार्शनिक अध्यवसाय में लगभग डेढ़ दशक तक इस सोपान पर स्थित यशदेव शल्य को बाद में यह भान होता है कि वे अपने प्रयत्न में पूर्णतः सफल नहीं हो सके थे। उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि विषय की बाह्यता के चिद्गत स्रोतों एवं आत्मा की ऐसी तात्त्विकता की खोज में मैं था जो वस्तुरूप न होकर भाव्यात्मक हो। उनके ही शब्दों में "अब 'विषय और आत्म' में जबकि मैं विषय के चिद्गत स्रोतों को देख पाया, स्वयं चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप को नहीं देख पाया जिससे ये स्रोत उद्गत होते हैं" (चिद्विमर्शप्राक्कथन, पृ. 2)। इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप का सन्धान, जिससे अनन्त विषयों के स्रोत उद्गत होते हैं, शल्य के दार्शनिक चिन्तन का तृतीय और अन्तिम प्रस्थान है। उनकी इस दार्शनिक दृष्टि का विकास *चिद्विमर्श* (1978) नामक ग्रन्थ में हुआ है।

यहाँ वे विषय-जगत् की चिद्गत संरचनाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निवृत्ति में देखते हैं। इसी प्रत्यङ्मुख चेतना का महाभाष्य करते हुए उन्होंने आत्मचेतन चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावनात्मक तीनों अभिवृत्तियों एवं मानवीय सर्जना के समस्त पक्षों, यथा भाषा, संस्कृति, समाज और सौन्दर्य तथा मनुष्य के समस्त मूल्यात्मक अभिनिवेशों की मौलिक व्याख्या की है। यही शल्य के दर्शन का चरम चिद्द्वैती प्रस्थान है जिसका बहुआयामी पल्लवन उनके ग्रन्थों जैसे *संस्कृति : मानव कर्तव्य की व्याख्या* (1969), *सत्ताविषयक अन्वीक्षा* (1987), *समाज : दार्शनिक परिशीलन* (1992), *मूल्यतत्त्वमीमांसा* (1994), *तत्त्वचिन्तन* (2003) और *चित् की आत्मगवेषणा* (2009) में हुआ है। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् द्वारा प्रकाशित *यशदेव शल्य का दर्शन* नामक पुस्तक में जी.सी. पाण्डे, मुकुन्द लाठ इत्यादि के आलेखों से शल्य के दार्शनिक चिन्तन में निहित मौलिकता और व्यापकता की झलक मिलती है। सम्प्रति मुकुन्द लाठ, जो स्वयं भी एक स्वतन्त्र विचारक हैं, यशदेव शल्य के धर्म, कर्म और नीति विषयक चिन्तन को अपने अध्यवसाय का विषय बनाकर उसे अपनी तरह से आगे बढ़ा रहे हैं। इस सम्बन्ध में उनकी पुस्तक *धर्म संकट* और *कर्म चेतना के आयाम* द्रष्टव्य हैं।

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् की स्थापना में यशदेव शल्य के सहयोगी रहे संगमलाल पाण्डेय (1929-2002) भी वेदान्त दर्शन के अपने समय के कट्टर अध्येता थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की समीक्षा कर डेपथ *एपिस्टेमोलॉजी* की पुनर्रचना *फिलॉसफी ऑफ प्रयाग स्कूल* के रूप में की है। *प्री-शंकर अद्वैतिक फिलॉसफी* (1974) एवं *व्हीदर इण्डियन फिलॉसफी* (1968) उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। डॉ. रामलाल सिंह द्वारा सम्पादित *फिलासफिकल कॉन्ट्रीब्यूशन ऑफ प्रो. एस.एल. पाण्डेय* (2004) संगमलाल पाण्डेय के दार्शनिक अध्यवसाय के ओर-छोर को समझने के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के कतिपय विशिष्ट चिन्तकों में महात्मा गाँधी के पौत्र रामचन्द्र गाँधी (1937-2007) का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से व्हाइटहेड की ज्ञानमीमांसा पर शोध-कार्य किया था और बाद में विश्वभारती, राजस्थान एवं हैदराबाद विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध रहे। अपनी वाग्मिता और विश्लेषण के लिए विख्यात रामचन्द्र गाँधी की कृतियों में *आई ऐम दाऊ* (1923, पुणे), जो रमण महर्षि पर केन्द्रित है, महत्वपूर्ण है। साथ ही साथ *लैंग्वेज, ट्रेडीशन एण्ड माडर्न सिविलायजेशन* (सम्पा.), *एवेलिबिलिटी ऑफ रेलिजियस आइडियाज*, *प्रीसपोजिशन ऑफ ह्यूमन कम्युनिकेशन*, *स्वराज* और *सीताज किचेन* जैसे छोटे-बड़े ग्रन्थ उनकी दार्शनिक परिकल्पनाओं को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। रामचन्द्र गाँधी के ही समकालीन प्रतापचन्द्र (1938-1991), जो सागर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे, भी बौद्ध दर्शन के

सम्भावनावान् अध्येता रहे। *मेटाफिजिक्स ऑफ परपेचुअल चेंज* (1978) और *दी हिन्दू माइण्ड* (1977) उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

टी.एम.पी. महादेवन् के पश्चात् 'मद्रास स्कूल ऑफ वेदान्त' के दूसरे महत्त्वपूर्ण अध्येता आर. बालसुब्रह्मण्यम् (ज. 1929) हैं। स्वातन्त्र्योत्तर युग में अद्वैत वेदान्त की उत्तरभारतीय अध्येता मुख्य रूप से 'भामती प्रस्थान' से सम्बन्धित रही है। सुरेश्वर के विवरण प्रस्थान को दक्षिण भारतीय अध्येताओं ने आधुनिक युग में आगे बढ़ाया है। बालसुब्रह्मण्यम् भी 'विवरण प्रस्थान' के जाने-माने अध्येता हैं। मण्डन मिश्र की *ब्रह्मसिद्धि* पर आधारित उनकी कृति *अद्वैत वेदान्त* और सुरेश्वर के *भाष्य-वार्तिक* संविलित *तैत्तिरीयोपनिषद्* तथा *नैष्कर्म्यसिद्धि* इत्यादि अंग्रेजी में किये गये अध्ययन बहुत ही प्रसादक हैं।

कुछ ऐसे चिन्तक इस युग में उल्लेखनीय हैं जो अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए। ओशो उर्फ रजनीश मोहन जैन (1931-90) ऐसे ही लोगों में गिने जा सकते हैं। विश्व-उपदेशक होने के पूर्व रजनीश जबलपुर में छात्र तथा शासकीय महाविद्यालय में दर्शन के अध्यापक थे। *संभोग से समाधि की ओर* (1069) के उनके संकलित लेखों के प्रकाशन से उन्हें ख्याति प्राप्त होने लगी। *शिक्षा में क्रान्ति* (1968) उनकी दर्शन से जुड़ी पुस्तक है। परम्परा का निषेध कर चिन्तन को वैश्विक बनाने में वे बुद्ध, कबीर तथा जे. कृष्णमूर्ति की श्रेणी में आते हैं। मुजफ्फरपुर के सरोज कुमार वर्मा, जबलपुर के ज्योतिस्वरूप दुबे तथा हिमाचल के वसन्त जोशी (सत्य वेदान्त) उनके दर्शन में रुचि लेनेवाले नाम हैं।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के दर्शन-विभाग से सम्बन्धित धर्मेन्द्र गोयल (ज. 1934) का आधुनिकोन्मुख चिन्तन भी यहाँ उल्लेखनीय है। इनके दार्शनिक अध्ययन के प्रमुख उत्पाद *फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री* (1967), *फिलॉसफी ऑफ सोशल चेंज* (1989) और *भाषा दर्शन* (1991) हैं। अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् द्वारा प्रकाशित (2012) इनकी कृति *स्वतन्त्रता, मूल्य और परम्परा* स्वातन्त्र्योत्तर भारत की समसामयिक चिन्ताओं पर महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विमर्श प्रस्तुत करती है।

इस काल के एक महत्त्वपूर्ण और प्रतिबद्ध अध्येताओं में भुवनेश्वर के जी.सी. नायक (ज. 1935) का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। इनके दार्शनिक अध्ययन में शंकर और नागार्जुन तथा कालिदास की कृतियों में अन्तरविष्ट दार्शनिक दृष्टियों का विश्लेषणात्मक विवेचन विशेष रूप से परिलक्षित होता है। नायक मूल रूप से शांकर वेदान्त के पारम्परिक अध्ययनसाथी हैं लेकिन शांकर वेदान्त की गहरी समझ को नागार्जुन के शून्यवाद को व्यावर्तक रूप में समझने के लिए उन्होंने जिस तरह उपयोग किया है, वह अपने आप में टी.आर.वी. मूर्ति की व्याख्या के समानान्तर खड़ा होता है। इनकी *ईविल, कर्म एण्ड रीइन्कार्नेशन* (1973), *ऐसेज इन एनालिटिकल फिलॉसफी* (1978), *फिलासफिकल रिफ्लेक्शन्स* (1987), *फिलॉसफिकल*

इन्टरप्राइज एण्ड द साइंटिफिक स्पिरिट (1994), एवं *माध्यमिक शून्यता* (2001) इत्यादि कृतियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अद्वैत वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में *वेदार्थ पारिजात* जैसे महाग्रन्थ के रचयिता, और आधुनिक शंकर कहे जानेवाले स्वामी करपात्री जी एवं टी.आर.वी. मूर्ति की शिष्य परम्परा में अधीत रेवतीरमण पाण्डेय (1942-2004) का नाम भी वैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों में लिया जाता है जिन्होंने प्रतिबद्ध युवा अध्येताओं की एक टोली का निर्माण किया है। *मैन एण्ड द यूनीवर्स; साइंटिफिक टेम्पल एण्ड अद्वैत वेदान्त; अमृतस्य पुत्राः (एन अद्वैतिक एनकाउण्टर विथ ग्लोबलिज्म एण्ड पोस्ट माडर्निज्म)* तथा *समग्र योग* इत्यादि कृतियाँ रेवतीरमण पाण्डेय के दार्शनिक अध्ययन के बहुविध आयामों को प्रस्तुत करती हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन भारतीय दर्शन का इतिवृत्त लिखते हुए अब हमलोग इस पड़ाव पर पहुँच रहे हैं जहाँ हममें से किसी एक (एस.पी. दुबे, ज. 1944) को इस इतिहास का द्रष्टा और उसका दृश्य भी बनना पड़ रहा है। "सचमुच यह मेरे लिए धर्म-संकट से कम नहीं कि मैं स्वयं ही इस इतिवृत्त में अपनी प्रस्थिति और भूमिका को रेखांकित करूँ। मुझे मेरे मित्र और सहचर धर्मदर्शन का विशेषज्ञ मानते हैं। मैं नहीं जानता कि यह मेरे ऊपर कितना लागू होता है लेकिन मैकमास्टर विश्वविद्यालय, कनाडा में उच्च अध्ययन के दौरान मैंने धर्मविज्ञान पद्धति से अध्ययन (1966-1968) किया था जो *रूडोल्फ आटो एण्ड हिन्दूइज्म* शीर्षक से 1969 में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त धर्मविज्ञान सम्बन्धी अपने अध्ययन को मैंने *ऑन रिलिजन* (1998) नामक पुस्तक में सँजोया है। मेरी अन्य पुस्तकें *ग्रीक फिलॉसफी* (1973; बर्नेट की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद), *आइडियलिज्म ईस्ट एण्ड वेस्ट* (1987) तथा चार भागों में भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् से (1994-96-98) प्रकाशित *फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी* (सम्पा.) हैं।

महज इसे एक संयोग ही कहिए कि इस इतिवृत्त में 20वीं शताब्दी की अर्द्धशती के जन्मांकवाले दार्शनिकों, अध्येताओं का एक युग एस.पी. दुबे के ही सन्दर्भन से पूरा हो रहा है और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने उन्हें सम्मानित करने के लिए *दर्शन के आयाम* (2012) और *डायमैन्शन्स ऑफ फिलॉसफी* (2012) प्रकाशित किया है। इन दोनों ग्रन्थों में इस देश के सम्प्रति सक्रिय लगभग 100 से अधिक अध्येताओं के ने अपनी विशेषज्ञता और रुचि-अनुरूप लेखन किया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के इतिवृत्त में ये दोनों ग्रन्थ इसलिए उल्लेखनीय हो जाते हैं कि इनसे 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दार्शनिक अध्ययन की एक झलक मिल जाती है।

इतिहास वैसे ही व्यक्तियों को सन्दर्भित करता है जो या तो पूरी परम्परा को या फिर किसी सम्प्रदाय विशेष को अपने अध्ययन से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित करते हैं। ऊपर हमने अपने अनुभव के आधार पर कुछ ऐसे ही प्रयासों का यथासम्भव

उल्लेख किया है। अब हम यहाँ कुछ दूसरे प्रकार के प्रयासों को सन्दर्भित करना चाहेंगे जो किसी न किसी रूप में इस देश में दार्शनिक चिन्तन की निरन्तरता और समृद्धि को बनाये रखने और उनके संरक्षण में सहयोगी रहे हैं।

इस देश में देशभाषा अर्थात् क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दर्शनशास्त्र के पठन-पाठन की प्राचीन परम्परा रही है। यह समझ लेना सर्वथा एक भूल है कि अंग्रेजी ही दार्शनिक चिन्तन-मनन के लिए एकमात्र सशक्त भाषा है। परदेशी भाषा में स्वदेशी चिन्तन करने से उसके स्वारस्य में जो अवचेतन विकार उत्पन्न होता है, उसे तत्काल समझना कठिन होता है। यह तो बहुत बाद में समझ में आता है कि दूसरी भाषा ने विचारों की निजता को ही अपहृत कर लिया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का यह वचन इस बात का प्रमाण है कि यहाँ प्राचीनकाल में भी क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन-मनन होता रहा है—संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः।। इस दृष्टि से वी.एम. वेडेकर (पुणे) की *फिलॉसफी इन फिफ्टीन मॉडर्न इण्डियन लैंग्वेजेज* (1979) नामक पुस्तक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में उन्होंने, संक्षेप में ही सही, असमिया, बांग्ला, अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी, कन्नड, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, ओड़िया, पंजाबी, सिन्धी, तमिल और तेलुगु इत्यादि भाषाओं के माध्यम से हुए दार्शनिक लेखन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारतीय दर्शन पर विश्वकोशीय लेखन को लेकर चार महत्वपूर्ण प्रयास सामने आये हैं। इसमें पहला प्रयास अमेरिका निवासी कार्ल एच. पॉट्टर का है। इन्होंने 23 भागों में *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* प्रकाशित करने की महत्त्वाकांक्षी योजना 1968 में बनाई थी। इस विश्वकोश के प्रथम तीन भाग भारतीय दार्शनिक साहित्य (प्राचीन, अर्वाचीन एवं आधुनिक पीरियोडिकल लेखन) पर आधारित अत्यन्त व्यापक बिब्लियोग्राफी हैं जिसे उन्होंने स्वयं ही बनाई है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के सहयोग से इस विश्वकोश के कई खण्ड मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली से प्रकाशित हो चुके हैं और शेष प्रकाशनाधीन है। इस विश्वकोश का निर्माण कर पॉट्टर ने भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक सेवा की है। ये स्वयं भी भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ और परिष्कर्ता विद्वान् हैं।

इस क्षेत्र में दूसरा प्रयास 'इण्डिया हैरिटेज फाउण्डेशन' के द्वारा 1980 के दशक में किया गया और पूर्वी-पश्चिमी विद्वानों के सहयोग से ग्यारह भागों में *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दूइज्म* तैयार किया गया है। कैलिफोर्निया के के.एल. शेषगिरि राव इसके प्रधान सम्पादक हैं और दिल्ली के प्रो. कपिल कपूर इसके सम्पादक हैं। इसका प्रकाशन 2011 में ही 'रूपा एण्ड कम्पनी' से हुआ है।

इन दोनों प्रयासों से भिन्न अपने ढंग का एक अनोखा *भारतीय दर्शन बृहत्कोश* का निर्माण 1980 के दशक में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से

दर्शन-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, के द्वारा कराया गया था। अर्जुन मिश्र, जो स्वयं ही व्याकरण दर्शन के अच्छे ज्ञाता रहे, इसके निदेशक थे और शास्त्रपुरुष पं. बच्चूलाल अवस्थी इसके शोध-कर्ता और लेखक थे। इस बृहत्कोश के कई भाग शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हो चुके हैं और शेष प्रकाशनाधीन हैं। भारतीय दर्शनों के आकर (मूल संस्कृत) सन्दर्भों के आधार पर हिन्दी में यह मूलानुगत कोश अपनी प्रामाणिकता और विस्तार में विश्वकोशीय आकार का है।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन विश्वकोशीय लेखन के क्षेत्र में सबसे बड़ा और सर्वाधिक प्रामाणिक प्रयास डी.पी. चट्टोपाध्याय (ज. 1931) के नेतृत्व में *प्रोजेक्ट ऑफ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन साइन्स, फिलॉसफी एण्ड कल्चर* के तहत किया गया है। समस्त भारतीय बौद्धिक सम्पदाओं को एक व्यापक अवधारणात्मक योजना में समाहित करने वाले इस महान् परियोजना की शुरुआत भारत सरकार के सौजन्य से भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के तत्त्वावधान में 1980 के दशक में की गई थी। बाद में 'सभ्यता अध्ययन केन्द्र' नामक एक स्वतन्त्र निकाय के द्वारा शताधिक खण्डों में प्रकाश्य यह परियोजना पूर्ण होने को है। इसके 90 खण्डों का प्रकाशन हो चुका है और शेष प्रक्रियाधीन हैं। आंग्ल भाषा में भारतमूलीय ज्ञान के समस्त विधाओं के ओर-छोर को अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करनेवाला ऐसा कोई दूसरा प्रयास स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नहीं हुआ है। विशुद्ध भारतीय विद्वानों के सहयोग और उनकी प्रतिभा का एतदर्थ क्रियान्वयन करते हुए भारतीय वाङ्मय का इतना विशालकाय वाग्विग्रह बनाने में डी.पी. चट्टोपाध्याय ने समन्वयक (योजकस्तत्र दुर्लभः) की जो भूमिका निभाई है, उसके लिए वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद किये जायेंगे। यह कालजयी प्रयास औपनिवेशिक मनोवृत्ति के उस दुराग्रह को सिरे से खारिज करता है कि ज्ञान की सारी जड़ें पश्चिम में हैं और यह कि भारतीय सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व-सभ्यता को कोई योगदान नहीं है। वास्तव में हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान पश्चिम के समानान्तर ही उन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और उनसे गुजर कर ही यहाँ पहुँचे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास भी उनसे प्रतिबद्ध अध्येताओं द्वारा हुआ है। यहाँ मेरा अभिप्राय वैसे दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास को रेखांकित करने से है जो किन्हीं कारणों से भारतीय परम्परा के अंगभूत होते हुए भी नवजागरण काल और स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी मुख्य धारा से अलग-थलग पड़ गये थे। द्रष्टव्य है कि भारत में मुगलकाल से लेकर ब्रिटिश राज तक भारत की प्राचीनकालीन और अद्यतन जीवन्त बौद्धिक परम्पराओं को अवरुद्ध करने के अनेकों प्रयास किये गये। फिर भी जान-बूझ कर किये गये इस अवरोध के विरुद्ध यहाँ वेदान्त दर्शन की परम्परा स्वराज के दर्शन के रूप में समय-समय पर अनेक रूपों को अवाप्त कर जीवन्त बनी रही और भारत की सांस्कृतिक चेतना तथा बाद में राजनीतिक स्वाधीनता

के संघर्ष को उसने वैचारिक आधार प्रदान किया। फलस्वरूप आधुनिक युग में वेदान्त इस देश में दर्शन की मुख्य धारा बन गया और अन्य कुछ प्राचीन दर्शन-धाराएँ अलग-थलक पड़ गईं। उदाहरण के तौर पर श्रमण परम्परा की दो मुख्य धाराओं में बौद्ध दर्शन तो गतिशील रहा लेकिन जैन दर्शन के क्षेत्र में वैसी गतिशीलता नहीं दिखाई पड़ी। स्वातन्त्र्योत्तर काल में एक ओर जैन धर्म के अनुयायियों में अपनी धार्मिक पहचान को लेकर जागरूकता बढ़ी तो दूसरी ओर उसके दार्शनिक पक्ष को भी मुख्य धारा में लाने हेतु कुछ संस्थागत और वैयक्तिक प्रयास हुए। जैन दर्शन के आधुनिक उन्नयन में एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद; पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी; जैन विश्वभारती, लाडनूँ और भोगीलाल जैन इन्स्टीट्यूट, दिल्ली ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन संस्थानों से जुड़े महत्वपूर्ण जैन अध्येताओं में नाथमल टाटिया, दलसुख भाई मलवाणियां, नगिन जे. शाह और सम्प्रति सागरमल जैन, एम.आर. गैलडा, सोहनराज तातेड़, रज्जन कुमार, राजवीर सिंह शेखावत इत्यादि प्रमुख रहे हैं।

इसी तरह आगमिक परम्परा के शैव दर्शन एवं काश्मीर शैव दर्शन भी भारत की समृद्ध दर्शन धाराएँ रही हैं। लेकिन इनका भी विकास और सांस्कृतिक स्वीकरण उस तरह से नहीं हुआ प्रतीत होता है जैसा कि वेदान्त के अन्य अद्वैतवादी दर्शनों का हुआ। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में कुछ अत्यन्त मेधावी और साधक प्रकृति के प्रतिबद्ध अध्येताओं के द्वारा इन दर्शनों का अच्छा प्रचार-प्रसार हुआ है। ऐसे साधक प्रकृति के अध्येताओं में प्रथम दृष्ट्या महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज एवं पण्डित रामेश्वर झा तथा लक्ष्मण जू का नाम आता है। स्वतन्त्रता-पूर्व इन तीनों आचार्यों को उपस्थापक आचार्य कहा जा सकता है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही महाराजा हरिसिंह (काश्मीर दरबार) द्वारा 'काश्मीर सीरीज ऑफ टेक्स्ट एण्ड स्टडीज' की स्थापना और दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन भी शैव परम्परा के उन्नयन के प्रति एक महत्वपूर्ण संस्थागत पहल थी। शैव एवं काश्मीर शैव दर्शन के आधुनिक अध्येताओं में के.सी. पाण्डेय, आर.के. काव, वी.एन. पण्डित और वर्तमान में सर्वाधिक सक्रिय नवजीवन रस्तोगी, कमलेशदत्त त्रिपाठी, लक्ष्मीनिधि शर्मा, कमलाकर मिश्र एवं ब्रजवल्लभ द्विवेदी इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इस प्रसंग में एक विशेष तथ्य का उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन की छाया में भरतमुनि, अभिनवगुप्त एवं रसशास्त्र को लेकर स्वातन्त्र्योत्तर युग में 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र' को स्वायत्त स्वरूप प्रदान करने का एक पुरोगामी प्रयास हुआ है। भारत में सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, के.सी. पाण्डेय, सुरेन्द्र बारलिंगे, पद्मविभूषण एस.के. सक्सेना, आर.एन. मुखर्जी एवं गोविन्दचन्द्र पाण्डे इत्यादि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के संस्थापक अध्येता रहे हैं। नये लोगों में राधावल्लभ त्रिपाठी (सागर), रंजन घोष (दिल्ली), रेखा झाँझी (चण्डीगढ़), विष्णुदत्त पाण्डेय (वाराणसी) और रजनीश कुमार शुक्ल (वाराणसी) को भारत के उदीयमान सौन्दर्यशास्त्रियों में परिगणित किया जा सकता है।

सांख्य-योग दर्शन, जो भारत की प्राचीनतम दर्शन परम्परा रही है, का भी विकास स्वातन्त्र्योत्तर युग में विभिन्न अध्येताओं द्वारा हुआ। 'मुंगेर स्कूल ऑफ योग' द्वारा तो इस विद्या का आधुनिक पुनराविष्कार किया जा रहा है। सांख्य-योग दर्शन के आधुनिक अध्येताओं में रामशंकर भट्टाचार्य (वाराणसी), हरिहरानन्द आरण्य (कलकत्ता) और सम्प्रति बी. कामेश्वर राव (रायपुर), कृपाशंकर (वाराणसी), विमला कर्णाटक (वाराणसी), एस.पी. सिंह (अलीगढ़) और योगी मुकेश (दिल्ली) तथा राजेश्वर सिंह (मुजफ्फरपुर) इत्यादि उल्लेखनीय नाम हैं।

भारत में पहली शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी पर्यन्त न्यायदर्शन का विकास एकरेखीय और अविच्छिन्न रूप में हुआ है। बौद्ध पूर्वपक्ष की शिथिलता के कारण इस दर्शन के विकास की गति भी धीमी पड़ी। लेकिन स्वतंत्रता से पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल में विशेषकर मिथिला और बंगाल में इस दर्शन के स्वाध्याय और अध्यवसाय की जीवन्त परम्परा बनी रही। बंगाल मूल के अध्येताओं में फणिभूषण तर्कवागीश, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, सितांशु शेखर वागची, अनन्तलाल ठाकुर, बी.के. मतिलाल, जे.एन. मोहन्ती, शिवजीवन भट्टाचार्य तथा 'यद बुद्ध्या यदुत्पन्नं तन्न्यायमतम्' को अपने अध्यवसाय से सर्वथा चरितार्थ करनेवाले पी.के. मुखेपाध्याय इत्यादि बहुत महत्वपूर्ण रहे हैं। मिथिला-मूल के अध्येताओं में बालकृष्ण मिश्र, महाप्रभुलाल गोस्वामी, शशिनाथ झा, कविशेखर, बद्रीनाथ झा, खड्गनाथ मिश्र, दुर्गाधर झा, आनन्द झा एवं किशोरनाथ झा प्रमुखता से सन्दर्भित किए जा सकते हैं। न्याय दर्शन के कुछ अन्य वरिष्ठ-कनिष्ठ अध्येताओं में बदरीनाथ शुक्ल, धर्मन्द्रनाथ शास्त्री, बलिराम शुक्ल, विश्वम्भर पाही, वी.एन. झा, रघुनाथ घोष एवं सम्प्रति उदीयमान नैयायिक के रूप में सच्चिदानन्द मिश्र (वाराणसी), अरुण मिश्र (मिथिला) तथा राजाराम शुक्ल (वाराणसी) का उल्लेख किया जाना उचित प्रतीत होता है।

अब जहाँ तक 'मीमांसा दर्शन' का प्रश्न है तो आज इसकी स्थिति संग्रहालय में पड़ी किसी प्राचीन धरोहर की तरह हो गई है। इसका साहित्य अपने आप में एक वाङ्मय की तरह है। लेकिन उसके अधिकांश भाग कर्मकाण्ड और यज्ञ-याजन से सम्बन्धित हैं। आधुनिक जीवन-शैली में न तो उनका अनुप्रयोग सम्भव है और न ही वे प्रयोजनीय ही रह गये हैं। इसके बावजूद भी इस शास्त्र के शासन को धर्म की तरह अंगीकार करनेवाले कुछ एक दाक्षिणात्य विद्वान् हैं जो इसके आजीवन अध्यवसाय को निष्ठा का विषय समझते हैं। पूर्वमीमांसा के दार्शनिक पक्षों को भारतीय दर्शन की मुख्य धारा में लाने के भगीरथ प्रयास गंगानाथ झा (1871-1941) और युधिष्ठिर मीमांसक के द्वारा किया गया और दोनों ने इससे सम्बन्धित अनेकों दार्शनिक महत्त्व के ग्रन्थों को अंग्रेजी एवं हिन्दी में अनूदित किया। लेकिन बाद में उनके प्रयासों को कोई योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त नहीं हुए। आज मीमांसा दर्शन की यदि कहीं चर्चा भी होती है तो केवल भारतीय भाषा-दर्शन के क्षेत्र में और वह भी अन्वितभिधानवाद और

अभिहितान्वयवाद तक सीमित है। भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भी मीमांसा दर्शन की भूमिका महत्वपूर्ण रही है लेकिन गोवर्धन भट्ट कृत *द बेसिक वेज ऑफ नोविंग* (1962), के अतिरिक्त इधर कोई भी महत्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में नहीं हुआ है। 20वीं शताब्दी में के.एल. सरकार (*लेक्चर्स ऑन मीमांसा थ्योरी ऑफ इन्टरप्रेटेशन* - 1913) और काशी प्रसाद सक्सेना (*मीमांसा रूल्स ऑफ इन्टरप्रेटेशन*, 1941) ने 'मीमांसा सम्मत निर्णय पद्धति' को विधिक निर्णय हेतु उपयोगी दिखाया है लेकिन उसे भी अन्ततः विधिक मान्यता नहीं प्राप्त हुई।

इतिहास की कालगति में जब कोई विचारधारा बहुत प्रभावी हो जाती है तो उसके समानान्तर अन्य और आनुषंगी विचार हाशिये पर चले जाते हैं। इस देश में अद्वैत वेदान्त की चूड़ान्त दार्शनिक प्रतिष्ठा और व्यापक सांस्कृतिक स्वीकरण के चलते वैष्णव वेदान्त के विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती और माध्वीय सम्प्रदायों के साथ ऐसा ही हुआ, जबकि भक्ति आन्दोलन के काल में इन दर्शनों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए जबरदस्त प्रतिरोधी भूमिका निभाई थी। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काल में कुछ एक अत्यन्त निष्ठावान विद्वानों द्वारा इन दार्शनिक सम्प्रदायों को उज्जीवन प्राप्त हुआ है।

शुद्धाद्वैती वाल्लभ वेदान्त को आधुनिक युग में पुनर्जीवित करने का इतिहास मुम्बई निवासी एम.पी. तेलीवाला से प्रारम्भ होता है। ये पेशे से वकील थे और अपने जीवन के मात्र 36 वर्षों में उन्होंने अकेले दम पर शुद्धाद्वैती दार्शनिक साहित्यों का विपुल सम्पादन-प्रकाशन किया था। उसके पश्चात् वल्लभाचार्य की 16वीं पीढ़ी के उत्तराधिकारी श्याम मनोहर गोस्वामी (ज. 1940) का प्रयास ऐतिहासिक और युगान्तकारी रहा है। 20वीं-21वीं शताब्दी में शुद्धाद्वैती दार्शनिक वाङ्मय और पुष्टिभक्ति साधना प्रणाली से सम्बन्धित आकर ग्रन्थों और परवर्ती प्रकरणात्मक लेखों का विपुल सम्पादन एवं प्रकाशन कर उन्होंने वाल्लभ वेदान्त को उज्जीवन प्रदान करने में उपलब्ध की भूमिका निभाई है। सम्प्रति गोस्वामी श्याम मनोहर समस्त भारतीय दर्शनों के आर-पार के निष्णात् विद्वान् हैं और पाश्चात्य दर्शनों एवं विज्ञान दर्शन में भी इनकी अच्छी पकड़ है। इनके प्रभूत लेखन और व्याख्यान से शुद्धाद्वैत की उस आधारिक संरचना का उद्घाटन होता है जो सर्ववादानवसर और नानावादानुरोधी है तथा श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के माध्यम से विकसित हुई 'एकमेवाद्वितीयम्' की ब्रह्मवादी विचार-परम्परा की अभिधा है। गोस्वामी श्याम मनोहर के केवल दो ग्रन्थों यथा *वाल्लभ वेदान्त निबन्धावली* और *साकार ब्रह्मवाद* (अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से चिन्तन-सृजन-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित, 2010) में उनकी शुद्धाद्वैती प्रतिभा का प्राकट्य देखा जा सकता है। वाल्लभ वेदान्त के अन्य आधुनिक अध्येताओं में काशी के केदारनाथ मिश्र (1935-1999) का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। *तत्त्वार्थ दीप निबन्ध : स्नेह प्रपूर्णी हिन्दी टीका* (1971), *विद्वत्समण्डन समीक्षा* (1996) तथा *अणुभाष्य समीक्षा* (1986) इत्यादि उनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

इसी तरह दक्षिण भारत में रामानुज वेदान्त और माध्व वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन की आज भी एक जीवन्त परम्परा है। बंगलोर स्थित 'उत्तरादिमठ' के प्रयासों से माध्व वेदान्त को उज्जीवन प्रदान करने के हर सम्भव प्रयास प्रतिबद्ध रूप से किये गये हैं। इस परम्परा के कतिपय वरिष्ठ-कनिष्ठ प्रतिनिधि अध्येताओं में माध्व वेदान्त से सम्बन्धित सत्यप्रमोद तीर्थ, प्रह्लादाचार्य, के.टी. पाण्डुरंगी तथा युवा अध्येताओं में श्रीनिवास बरखेड़ी एवं वीरनारायण पाण्डुरंगी उल्लेखनीय हैं। रामानुज वेदान्त के सम्प्रति सक्रिय अध्येताओं में रामानुज ताताचार्य, एस.एम. श्रीनिवासाचारी, एस.आर. भट्ट और के.ई. देवनाथन का नाम प्रमुखता के साथ लिया जा सकता है। इस प्रसंग में रामानुज सम्प्रदाय के दो अधिष्ठातृ प्रतिभा के अध्येताओं का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। ये हैं, उत्तमुर वीरराघवाचार्य और परकाल मठाधीश। मैसूर के परकाल मठाधीश ने तो केवल दो हजार पृष्ठों में श्रीभाष्य की भूमिका लिखी है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में वेदान्त की विचारधारा से ही सम्बन्धित कुछ नवीन आनुषंगिक प्रवृत्तियों का भी न्यूनाधिक रूप में विकास हुआ है। उदाहरण के तौर पर स्वामिनारायण सम्प्रदाय ने अपने को वेदान्त का एक स्वतन्त्र-प्रस्थान सिद्ध करने के लिए 21वीं सदी में *ब्रह्मसूत्र स्वामिनारायणभाष्यम्* (2009) और *उपनिषद् स्वामिनारायणभाष्यम्* का प्रणयन किया है। ये दोनों नवीन भाष्य डॉ. साधु भद्रेश दास (ज. 1966) द्वारा प्रणीत हुए हैं। डॉ. साधु श्रुतिप्रकाश इस सम्प्रदाय के नवोदित अध्येता हैं जिनके लेखन से स्वामिनारायण वेदान्त अपनी स्वायत्तता में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसके अतिरिक्त वेदान्त की भावधारा से सम्बन्धित कतिपय एकदेशीय देशज प्रवृत्तियों का भी स्वतन्त्रता के बाद के दिनों में खूब प्रचार-प्रसार हुआ है। इनमें महामति प्राणनाथ का जागनी सम्प्रदाय, श्रीराम शर्मा आचार्य का वैदिक-विज्ञान सम्बन्धी चिन्तन, उड़ीसा में विकसित हो रहे 'महिमाद्वैत सम्प्रदाय' और पारनेर, महाराष्ट्र में विकासमान रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेकर (1916-1980) प्रणीत 'पूर्णवाद' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ तो क्षेत्रीय सामाजिक आन्दोलन का रूप ले चुके हैं।

उपर्युक्त हाशिये पर चले गये कतिपय भारतीय दर्शनों के सम्प्रदाय-केन्द्रित विकास के अतिरिक्त स्वातन्त्र्योत्तर युग में भारतीय भाषा दर्शन को विकसित करने में एक विशेष प्रकार की अकादमिक जागरूकता दिखाई पड़ती है। पश्चिम के लिए भाषा-दर्शन भले ही एक अर्वाचीन दार्शनिक अध्यवसाय का विषय बना हो लेकिन भारत के लिए यह बहुत पुरातन दार्शनिक-विमर्श का विषय रहा है। तब भी इसमें कोई दो राय नहीं कि पश्चिम की भाषा-विश्लेषणवादी दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय अध्येताओं को भारतीय भाषा-दर्शन के क्षेत्र में पहल करने की प्रेरणा मिली। इसके परिणामस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर काल में व्याकरण-दर्शन का बहुत विकास हुआ और भर्तृहरि, दिङ्नाग इत्यादि को इस क्षेत्र में विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इस क्षेत्र

में महत्त्वपूर्ण योगदान करनेवाले नए-पुराने अध्येताओं में के.ए.एस. अय्यर (*भर्तृहरि*), गौरीनाथ शास्त्री (*फिलॉसफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग*, 1959), के.के. राजा (*इण्डियन थ्योरीज ऑफ मीनिंग*, 1963), आर.सी. पाण्डेय (*प्रॉब्लेम्स ऑफ मीनिंग इन इण्डियन फिलॉसफी*, 1969), विमलकृष्ण मतिलाल (*दी वर्ड एण्ड दी वर्ल्ड*), पी.के. मुखोपाध्याय (*न्याय थ्योरी ऑफ लिंग्विस्टिक परफॉरमेन्स*) एवं डी.एन. तिवारी (*सेन्ट्रल प्रॉब्लेम्स ऑफ भर्तृहरि फिलॉसफी*, 2008) इत्यादि प्रमुख हैं। व्याकरण दर्शन की प्रमाणमीमांसा पर एकमात्र इदंप्रथमतया जो मानक कार्य हुआ है वह है रामप्रसाद त्रिपाठी कृत *व्याकरणदर्शने प्रमाणसमीक्षा* (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित)।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का आसन्न वर्तमान वस्तुतः दार्शनिक क्रिया-कलापों से सरोकार रखनेवाले इस युग के अध्येताओं की तीसरी एवं चौथी पीढ़ी का मिला-जुला रूप है। इस वर्तमान पर आरूढ़ तीसरी पीढ़ी अपने वय और स्वाध्याय की दृष्टि से प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो रही है और चौथी पीढ़ी जो उदीयमान है, उसका दार्शनिक अध्यवसाय अभी स्वरूप ग्रहण करने की प्रक्रिया में है। ऐसी स्थिति में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के इस युग की कोई स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत करना भीड़ से होकर गुजरनेवाली ज्ञान के विकास की रेखा की ऋजुता और वक्रता को नापने जैसा ही हो सकता है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस युग में दर्शन का क्षेत्र-विस्तार पहले की अपेक्षा अधिक हुआ है और गुणात्मक विस्तार की दृष्टि से अभी कुछ कहना जल्दीबाजी होगी।

आधुनिक भारत में, विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में, स्वाध्याय की प्रवृत्ति प्रमुख रही है। लेकिन आलोचनात्मक हस्तक्षेप की वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती जैसी कि पहली शताब्दी से लगभग बारहवीं शताब्दी तक न्याय और बौद्ध परम्परा के मध्य दिखाई देती है। इस कारण आधुनिक भारत में किसी व्यक्ति के दार्शनिक योगदानों को व्यावर्तक रूप में निर्धारित करना कठिन होता है। फिर भी कुछ एक पत्र-पत्रिकाओं को सन्दर्भ बनाकर स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के वर्तमान मुखौटे को पहचाना जा सकता है, क्योंकि किसी युग-विशेष में ज्ञान के सामूहिक विकास का मुखपत्र उस युग की पत्र-पत्रिकाएँ ही होती हैं। इस देश में अंग्रेजी माध्यम से निकलनेवाली पत्रिकाओं में *जे.आई.सी.पी.आर.* (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्) और *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली* (दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय) प्रमुख हैं। *जे.आई.सी.पी.आर.* के नये सम्पादक प्रो. अशोक वोहरा (दिल्ली) हैं जो पाश्चात्य दर्शन के जाने-माने विशेषज्ञ और दर्शन की युवा पीढ़ी को प्रोन्नत करने में रुचि रखनेवाले सूझ-बूझ सम्पन्न व्यक्ति हैं। *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली* के नये सम्पादक प्रो. सदानन्द मोरे (पुणे) भारतीय नीतिशास्त्र एवं संत-दर्शन के सुहृद विद्वान् हैं।

हिन्दी में निकलनेवाली पत्रिकाओं में *दार्शनिक त्रैमासिक* (अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्), *उन्मीलन* (दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर), *परामर्श* (दर्शन विभाग, पुणे

विश्वविद्यालय) और *समाज धर्म दर्शन* (भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, इलाहाबाद) प्रमुख हैं। इनमें *दार्शनिक त्रैमासिक* के सम्पादक प्रो. आर.सी. सिन्हा (ज. 1944, पटना) हैं। इनके अध्यवसाय का क्षेत्र आधुनिक भारतीय चिन्तन के साथ-साथ 'सबाल्टर्न फिलॉसफी एण्ड एथिक्स' है। 'बुद्धि' की आधुनिक और उत्तर-आधुनिक भूमिकाओं को पुंखानुपुंख समझते हुए इनका *सीमान्त दर्शन* भारत में दलित दर्शन की सत्तामीमांसा को उद्घाटित करने के प्रति एक महत्त्वपूर्ण पहल है। 'परामर्श' के सम्पादक प्रो. एस. भेलके (पुणे) हैं। इनके पास सम्पादन का लम्बा अनुभव है और इस कारण बहुविज्ञता इनकी विशेषज्ञता पर भारी पड़ती है। उन्मीलन के सम्पादक प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा और डॉ. प्रदीप कुमार खरे (भोपाल) हैं। 'समाज धर्म दर्शन' के सम्पादक प्रो. जटाशंकर (जन्म-1953), संगमलाल पाण्डेय के वरिष्ठ शिष्यों में 'वेदान्ती समाजवाद' के उपस्थापक दार्शनिक कहे जा सकते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नव-वेदान्त की लोकायनी समाजवादी व्याख्या और उसके दार्शनिक गुण-सूत्रों को उद्घाटित करनेवाली उनकी महत्त्वपूर्ण कृति *वेदान्ती समाजवाद* (1999) है।

उपर्युक्त सभी पत्रिकाओं के पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित अंकों (जे.आई.सी.पी.आर. तथा *दार्शनिक त्रैमासिक* का इण्डेक्स उपलब्ध है) को देखने से स्पष्ट ही विदित होता है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के वर्तमानारूढ़ युग में किसी विशेष दार्शनिक प्रवृत्ति का प्राधान्य नहीं बल्कि एक प्रकार से बहुलवादी दार्शनिक संस्कृति के पनपने के संकेत मिलते हैं। इसे केवल भौगोलिक अर्थ में ही भारतीय कहा जा सकता है, दार्शनिक गोत्र में तो यह कुछ और ही है। ऐसा दार्शनिक लेखन जो अपने दार्शनिक गोत्र में भारतीय हो, उसे निरपवाद रूप से 1985 से अद्यतन प्रकाशित केवल *उन्मीलन* में ही देखा जा सकता है। लेकिन विडम्बना यह है कि *उन्मीलन* हिन्दी माध्यम की पत्रिका है और उससे जुड़े लेखकों की संख्या बहुत कम है। उनमें भी अधिकांश स्वातन्त्र्योत्तर युग की वर्तमान पीढ़ी से सम्बन्धित न होकर वास्तव में उसकी दूसरी पीढ़ी के विद्वान् रहे हैं। *जे.आई.सी.पी.आर.* और *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली* में प्रकाशित जैसे लेख और लेखक जिन्हें स्वातन्त्र्योत्तर युग की तीसरी और चौथी पीढ़ी के अन्तर्गत रखा जा सकता है, उनका दार्शनिक गोत्र सामान्य तौर पर पाश्चात्य परम्परा के एंग्लो-सेक्सन फिलॉसफी, फेनोमेनोलॉजी एवं अस्तित्ववाद तथा उत्तर-आधुनिकता से सम्बन्धित है। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येताओं की यह टोली उपर्युक्त दार्शनिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अपना कोई महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप दर्ज नहीं कर पायी है जैसा कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येता की दूसरी पीढ़ी के चन्द लोगों ने किया था और उन्हें मान्यता भी मिली थी। ऐसे मान्यताप्राप्त अध्येताओं में जे.एल. मेहता, जे.एन. मोहन्ती, रिचर्ड सोराबजी और अकील बिलग्रामी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। अंग्रेजी माध्यम से लिखने-पढ़नेवाले स्वातन्त्र्योत्तर युगीन उदीयमान अध्येताओं का एक ऐसा वर्ग भी है

जो सभ्यता के वर्तमान दौर में जन्म लिए उन अनुप्रयुक्त समस्याओं पर लिखता-पढ़ता है जो व्यापक परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारवादी दर्शन और तकनीकी हेजेमोनी से सम्बन्धित हैं। इस वर्ग में आनेवाले नवोदित अध्येता अवश्य ही प्रतिभावान् हैं लेकिन दर्शन के क्षेत्र में उनका प्रवेश आत्मचेतन निर्णय पूर्वक न होकर औचक तरीके से हुआ है। भारत के प्रोद्योगिकी संस्थानों से जुड़े दर्शन के अधिकांश अध्येता इसी प्रकृति के हैं। उनके चिन्तन में कोई अन्तर्निहित धारा नहीं दिखाई पड़ती है।

पुनः, हिन्दी माध्यम से हो रहे स्वतन्त्र लेखन तथा *दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श* और *समाज-धर्म-दर्शन* इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर अध्येतृता का वर्तमान स्वरूप जिस रूप में परिलक्षित हो रहा है उसे केवल क्षैतिज विस्तार की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। सृजनात्मक दार्शनिक लेखन की कसौटी पर उसे खरा कहा जाना कठिन है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी माध्यम से जो कुछ लिखा जा रहा है वह अधिकांश में द्वैतीयक स्रोतों पर आधारित प्रतीत होता है। इसलिए ऐसे लेखनों में इस विवेक की नितान्त कमी दिखाई पड़ती है कि वह क्या है जिस पर लिखा जाना चाहिए और यह भी कि कैसे लिखा जाना चाहिए। परम्परा की अन्तरंग पहचान के बिना यह विवेक सम्भव ही नहीं होता। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन वर्तमान अध्येतृता की इस कमी का एक दुष्परिणाम यह भी है कि हम अपने से पूर्व की पीढ़ी के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अध्यवसाय और हस्तक्षेपों से भी अवगत नहीं हो पाते। उसे आगे बढ़ाना तो दूर की कौड़ी है। इस सर्वेक्षणात्मक आलेख से ही इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन पहली और दूसरी पीढ़ी के अध्येताओं ने अपने दार्शनिक अध्यवसाय से हमें आगे बढ़ने के लिए कितना महत्त्वपूर्ण सोपान प्रदान किया है। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन वर्तमान अध्येतृता यदि पाश्चात्य दर्शन को उसके मौलिक स्रोतों से नहीं जानती तो वह उतना हानिकारक नहीं, जितना यह कि वह अपने को भारतीय दर्शन के मौलिक और आकर स्रोतों से काट ले। दर्शन की वर्तमान पीढ़ी के लिए यह एक गम्भीर समस्या है और इससे निजात पाने के लिए एक विशेष प्रकार का सामूहिक संकल्प और संस्थागत पहल की जरूरत है। भारतीय दर्शनों के मूलानुगत अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् ने समय-समय पर विभिन्न कार्यशालाओं का आयोजन कर इस दिशा में बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है।

सम्प्रति भारत में दार्शनिक अध्यवसाय का एक नवीन क्षेत्र पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के रूप में सामने आया है। पारिस्थितिकीय असन्तुलन एक भूमण्डलीय समस्या होने के कारण इस विषय को लेकर पूरी दुनिया में बहुत कुछ लिखा जा रहा है और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच सम्बन्ध और केवल मनुष्य के हितार्थ प्रकृति के अविचारित दोहन पर फिर से विचार किया जा रहा है। वर्तमान पीढ़ी के भारतीय अध्येताओं ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त रुचि दिखाई है। यद्यपि इस क्षेत्र में ज्यादातर लोगों ने छिटपुट लेखन

ही किया है लेकिन बहुतेरे लोगों के द्वारा यदा-कदा ही सही, ऐसे प्रयासों से भारतीय वाङ्मय में यत्र-तत्र उपलब्ध उन सन्दर्भों का व्यापक सर्वेक्षण सामने आया है जो किसी-न-किसी रूप में पर्यावरणीय नीतिशास्त्र से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारतीय दर्शन के अनुप्रयुक्त पक्ष को लेकर यह एक नया अध्याय है और इस भूमण्डलीय समस्या के प्रति मूल्यवान् भारतीय दृष्टि को अवश्य ही दुनिया के सामने मजबूती से रखा जाना चाहिए। परन्तु हमने जहाँ तक इस क्षेत्र से सम्बन्धित लेखनों का अवलोकन किया है उससे यही प्रतीत होता है कि प्रकृत समस्या का भारतीय दृष्टि से दार्शनिकीकरण यथोचित रूप से नहीं किया जा रहा है। अभी तक के अधिकांश प्रयासों से वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, धर्मशास्त्र और भारतीय परम्परा के महाकाव्यों में गहन-पारिस्थिकी के उन आकर-स्थलों को चिह्नित किया जाना जरूर सम्भव हुआ है जिन्हें समग्रतावादी भारतीय विश्वदृष्टि के तहत व्याख्यायित किया जाय तो पर्यावरणीय नैतिकता के भारतीय पक्ष को मूलगामी रूप में उभारा जा सकता है।

सम्प्रति स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न विधाओं को अपने अध्यवसाय का विषय बनानेवालों में गोरखपुर के सभाजीत मिश्र (*अस्तित्ववाद*), हैदाराबाद के आर.सी. प्रधान (*विश्लेषणात्मक दर्शन*), दिल्ली के सत्यपाल गौतम (*सामाजिक-राजनीतिक दर्शन*) एवं आर.पी. सिंह (*पोस्टमॉडर्निज्म, हरमेन्युटिक्स, डिकन्स्ट्रक्शन*), शिलांग के बी.के. अग्रवाल (*हरमेन्युटिक्स, सामाजिक-राजनीतिक दर्शन*), मुम्बई के पी.आर. भट्ट (*तर्कशास्त्र एवं विश्लेषणात्मक दर्शन*), लखनऊ के राकेश चन्द्र (*विश्लेषणात्मक दर्शन और ज्ञानमीमांसा*), इलाहाबाद के संजय कुमार शुक्ल (*काण्ट और हुससर्लीय फेनोमेनोलॉजी*), हैदाराबाद के प्रसेनजित विश्वास (*ज्ञानमीमांसा एवं भाषा दर्शन*), लखनऊ के के.सी. पाण्डेय (*विट्गेन्स्टाइन*) एवं हजारीबाग के रवीन्द्र के.एस. चौधरी (*विट्गेन्स्टाइन*) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

अवधेय है कि प्रो. एन.एस. रमण, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक वरिष्ठ दार्शनिक तथा पूरब और पश्चिम के दार्शनिक निहितार्थों का अच्छा-खासा अनुभव रखते हैं, ने अपने एक प्रसिद्ध आलेख 'दी फ्यूचर ऑफ इण्डियन-फिलॉसफी' (एस.एस. रामा राव पप्पू एवं आर. पुलिगेन्डला-सम्पा. *इण्डियन फिलॉसफी पास्ट एण्ड फ्यूचर*, पृ. 371-81) में एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए कहा है कि "ब्रिटिश दर्शन के प्रति आसक्ति रखने में भारतीय दर्शन का कोई रचनात्मक भविष्य दिखाई नहीं पड़ता और जहाँ तक विश्लेषणात्मक दर्शन का सम्बन्ध है तो यह भारतीय दर्शन की अस्मिता को ही पूरे तौर से नकार देता है। ऐसे में भारतीय दर्शन का मूल्यवान् भविष्य इस बात में निहित है कि वह अपने गहन दार्शनिक प्रतीकों को फिर से एक नये प्रकाश में उद्घाटित करे ताकि मनुष्य के आत्मिक अनुभवों को प्रामाणिकता के साथ सामने लाया जा सके। आज की वैश्वीय दार्शनिक परिस्थिति में भारतीय दर्शन को इस

भूमिका के साथ अपने पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए पहले की अपेक्षा बेहतर अवकाश है।”

प्रो. एन.एस. रमण की उपर्युक्त चिन्ता स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की वर्तमान पीढ़ी के लिए एक महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश है। सम्प्रति पाश्चात्य दर्शन के भारतीय अध्येताओं को भी अपने पश्चिमी अनुभव और अध्यवसाय के प्रतिबल से भारतीय दर्शन की इस भावी भूमिका को अपना योगदान देने के लिए सामने आना चाहिए। इस सन्दर्भ में हम यहाँ स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सर्वाधिक सृजनधर्मी दार्शनिक के अनुभव को सप्रसंग उपस्थापित करना चाहते हैं ताकि उसे उसकी सम्पूर्ण प्रभावमत्ता के साथ आत्मसात् किया जा सके। प्रो. जड़ावलाल मेहता, जो प्रारम्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे और बाद में मार्टिन हाइडेगर के विश्वप्रसिद्ध ज्ञाता के रूप में प्रख्यात हुए, उन्हें 1985 में अज्ञेय जी ने ‘हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानमाला’ के लिए आमंत्रित किया और उन्होंने इसके अन्तर्गत पाँच व्याख्यान दिये जो बाद में *कविकर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम* शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। अपने पाँचों व्याख्यानों में प्रो. मेहता ने अपने पूर्वी और पश्चिमी अनुभव का निचोड़ प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने ही घर ‘भारत’ में अपने व्याख्यान को प्रस्तावित करते हुए अपने सम्पूर्ण अनुभवों के साथ एक हृदय-विदारक टिप्पणी की थी। वह यह कि “ऋतगोपा वरुण के सहस्र-द्वार घर तक पहुँचने के उतने ही वाग्पथ हैं, पर उनमें भी अपने ही सांस्कृतिक अतीत और जीवित परम्परा द्वारा निर्मित और निर्दिष्ट पथ ही ऋजु मार्ग है, अपने भूत से वर्तमान को जोड़ने का कठिन, पर सीधा रास्ता है। वैसे तो टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर, राजमार्ग छोड़कर, भटकने का भी अपना अलग सुख है, अपनी अलग उपलब्धियाँ हैं। पर लौटकर सीधा रास्ता पकड़ सकने में आत्म-लाभ का आनन्द है।”

यदि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की इस वर्तमान पीढ़ी के सन्दर्भ में प्रो. रमण के भविष्य-बोध और प्रो. मेहता की वापस घर लौटने की स्वीकृति को जाँचें-परखें तो आज यह न्यूनाधिक रूप में चरितार्थ होता हुआ प्रतीत होता है। भारतीय दार्शनिक अध्यवसाय की साम्प्रतिक स्थिति में भारतीय और पाश्चात्य दर्शन की स्थिति एक-दूसरे से मुँह मोड़ने की नहीं रह गयी है। भारत में पाश्चात्य दर्शन के अध्यवसायी अब भारतीय दर्शन के इस स्वरूप को समझने लगे हैं कि यह भी एक मनुष्य की सार्वभौमिक ज्ञानात्मक उपलब्धि है और इस तरह वे सभी अपने-अपने पश्चिमी अनुभव के नजदीक पड़नेवाले भारतीय दर्शन के पक्ष को तराशने लगे हैं। दूसरी ओर भारतीय दर्शन के पारम्परिक एवं आधुनिक अध्येता भी पाश्चात्य दर्शन को इस तरह नहीं देखते कि मानो वह ज्ञान की कोई निषिद्ध म्लेच्छ परम्परा हो। भारतीय दर्शन का आधुनिक अध्येता यदि अपनी विशेषज्ञता के समीप पड़नेवाले पाश्चात्य दार्शनिक पक्ष से परिचित नहीं होता तो वह उसे अपनी कमी स्वीकार करने लगा है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की ऐसी अन्तर-दार्शनिक संवेदनशीलता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है

और यह भारतीय दर्शन के सार्वभौमिक चरित्र की प्रतिष्ठा (आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः) के प्रति महत्वपूर्ण संकेत भी है। भारतीय दर्शन की मुख्य धारा में इस प्रकार की अकादमिक संवेदनशीलता के साथ सम्प्रति जो लोग सक्रिय हैं उनमें से बहुतों के अध्यवसाय का संकेत पहले ही किन्हीं प्रसंगों में किया जा चुका है और शेष लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका का संकेतन यहाँ द्रष्टव्य है।

सम्प्रति अद्वैत वेदान्त के स्वाध्यायी विद्वान् देश भर में अनेकों मिल जाएँगे लेकिन पारम्परिक पाण्डित्य और साधक प्रकृति के विद्वानों में सुधांशुशेखर शास्त्री (वाराणसी) और मणि द्राविड़ (पूर्व में वाराणसी और सम्प्रति मद्रास) का नाम यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनों नव्य-वेदान्त अर्थात् श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती की परम्परा के उद्भूत अध्येता हैं। श्रीहर्षोत्तर अद्वैत वेदान्त की तर्कणा पद्धति, जो अनिर्वचनीयता के तर्कशास्त्र से होकर निर्विशेषाद्वैत में फलित होती है, उसके एक अछूते क्षेत्र में सुधांशु शेखर शास्त्री ने शंकर चैतन्य भारती (1915-1958) के *दर्शनसर्वस्वम्* तथा *खण्डनखण्डखाद्य* की शारदाटीका पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी तरह अद्वैत वेदान्त के आधुनिक विद्वानों में हैदराबाद के ए. राममूर्ति (*अद्वैत : ए कॉन्सेप्चुअल एनालिसिस*), बंगलोर के श्रीनिवास राव (*अद्वैत : ए क्रिटिकल इन्वेस्टिगेशन*), मद्रास के गोदावरीश मिश्र जो अद्वैत वेदान्त के विद्यारण्य सम्प्रदाय के आधिकारिक अध्येता हैं तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक अत्यन्त सम्भावनावान् अध्येता आनन्द मिश्र (संवित् प्रकाशवाद) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। आनन्द मिश्र के ‘संवित् प्रकाशवाद’ ग्रन्थ को चेतना के समकालीन अध्ययन के क्षेत्र में ‘यूनिटी थैसिस’ के पक्ष में भारतीय दृष्टि से लिखा गया एक मौलिक प्रबन्ध कहा जा सकता है। इसी को आधार बनाकर उन्होंने गहन ज्ञानमीमांसा से तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र की अद्वैतयात्रा को सफलतापूर्वक उद्घाटित किया है।

भारतीय दर्शन परम्परा में बौद्ध दर्शन की जड़ें बहुत गहरी हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बौद्ध विद्या के विकास को यथासम्भव राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। परन्तु इस देश के बौद्ध अध्ययन केन्द्रों से जुड़े विद्वानों की भूमिका बड़ी निराशाजनक है। इन्हें अधिक से अधिक बौद्ध विद्या की विरदावली गान करने वाला ही कहा जा सकता है। इस अप्रिय सत्य के प्रमाणस्वरूप शिशिर कुमार पाण्डेय द्वारा सम्पादित और श्रीयुत् दलाई लामा को समर्पित *ज्ञानायनी* (वर्ष-3, अंक-1-2, 2005) नामक पत्रिका के बौद्ध-संस्कृति विशेषांक को देखा जा सकता है। इसमें सम्प्रति भारत के तथाकथित 64 विद्वान् एक साथ अपनी चौंसठों मुद्राओं में उपस्थित हुए हैं। इसके बावजूद भी भारतीय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध बौद्ध दर्शन के कुछ एक ऐसे अध्येता हैं जो अपने अध्यवसाय से बौद्ध दर्शन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा के साथ प्रस्तुत करते हैं। ऐसे सक्रिय विद्वानों में दिल्ली के एच.एस. प्रसाद (*सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म*), पुणे के प्रदीप पी. गोखले (*इनफेरेन्स एण्ड फैलेसिज डिस्कड इन एन्सिएण्ट इण्डियन*

लॉजिक), पुणे की ही मंगला आर. चिंचोरे (*धर्मकीर्तिज थ्योरी ऑफ हेतु सेन्ट्रीसिटी तथा बुद्धिस्ट कॉन्सेप्ट ऑफ मैन एण्ड ह्यूमन इमैसिपेशन*), भारतीय संशयवाद और नागार्जुन के विशिष्ट ज्ञाता डी.के. मोहन्ता (कोलकाता) तथा अम्बिकादत्त शर्मा (*बौद्ध प्रमाण दर्शन*) प्रमुख हैं। द्रष्टव्य है कि एच.एस. प्रसाद ने मानव एकता के बौद्ध सूत्र को 'दुखियाओं के सम्प्रदाय' के रूप में और मानव समानता के सूत्र को सद्धर्माम्मुखी होने के रूप में बिलकुल अभिनव तरीके से उद्घाटित किया है तथा बुद्ध की निदानपरक दृष्टि को मानवीय चेतना और सम्पूर्ण मानवता के अ-तत्त्वमीमांसीय नैतिकीकरण की एक महान् कार्ययोजना की तरह देखा है। अब जहाँ तक अम्बिकादत्त शर्मा के अध्यवसाय का प्रश्न है तो नारायण शास्त्री द्रविड़ (न्यूजीलैंड) ने उनके *बौद्ध प्रमाण दर्शन* की समीक्षा (उन्मीलन, वर्ष-21, अंक-2, जुलाई 2007) करते हुए कहा था कि "यह पुस्तक प्रौढ़ प्रमाण दार्शनिक दृष्टि से लिखी गई एक अनूठी कृति है। बौद्ध पुरस्कृत प्रमाण-सिद्धान्त से सम्बद्ध समस्याओं पर विस्तृत और मूलग्राही विवेचन इसमें प्राप्त होता है। इन समस्याओं पर अंग्रेजी में भी, जिसमें बौद्ध दर्शन पर अनेकों निबन्ध-प्रबन्ध लिखे गये हैं, कोई शोध-प्रबन्ध नहीं लिखा गया है।" प्रदीप पी. गोखले ने (जे.आई.सी.पी.आर. - XXV, जुलाई-सितम्बर, 2008, पृ. 168) अम्बिकादत्त शर्मा के *अभिनव ज्ञानमीमांसीय अभिगम* पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "बौद्ध प्रमाण दर्शन के लेखक के अकादमिक योगदानों को दो तरीके से मान्य किया जा सकता है। पहला यह कि लेखक ने ऐतिहासिक न्याय-बौद्ध-विवाद को बिलकुल एक नया जीवन प्रदान किया है और दूसरा यह कि भारतीय प्रमाण मीमांसा में पहली बार 'मेटा एपिस्टेमोलॉजिकल एप्रोच' को चौंका देनेवाली स्पष्टता के साथ विकसित किया गया है।" ऐसे ही हैदराबाद के ए. रघुराम राजू (*इन्डियोरिंग कोलोनियलिज्म : क्लासिकल प्रजेन्सेज एण्ड मॉडर्न एक्सेन्सेज इन इण्डियन फिलॉसफी*) जो मूलरूप से 'कॉग्निटिव साइन्स' के अध्येता हैं लेकिन इस समय समकालीन भारतीय दर्शन पर बहुविध रूप से सनसनीखेज लेखन कर रहे हैं। इसमें दो राय नहीं कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की वर्तमान पीढ़ी में कई अन्य अध्येता अपनी-अपनी तरह से सक्रिय हैं और निकट भविष्य में अपनी विशिष्ट पहचान के साथ उभर कर सामने आएँगे। उन सबकी जानकारी हमें उपलब्ध हो, यह सम्भव नहीं, फिर भी चलते-चलते यहाँ वरुण कुमार त्रिपाठी एवं अनिल कुमार तिवारी (वैष्णो देवी विश्वविद्यालय, जम्मू), अमित मिश्र (इलाहाबाद) और सुधांशु शेखर (भागलपुर) की ओर आशा भरी निगाहों के साथ देखा जा सकता है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की दशा-दिशा और उपलब्धियों के यथासम्भव उपर्युक्त सर्वेक्षण का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन का अतीत, वर्तमान और भविष्य अपनी प्रकृति में तत्त्वमीमांसीय रहा है। के.सी.

भट्टाचार्य ने 'स्वराज इन आईडियाज' नामक अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में उचित ही कहा था कि "आधुनिक समय में भारत की आत्मा को यदि कहीं खोजा जाना अपेक्षित हो तो उसे दर्शन के क्षेत्र में ही पाया जा सकता है।" इस निर्विवाद सत्य में हम यह जोड़ना चाहेंगे कि यदि भारत की आत्मा उसकी समृद्ध दर्शन परम्परा में बसती है तो भारतीय दर्शन की आत्मा का स्थायी निवास उसके तत्त्वचिन्तन में है। थोड़े समय के लिए आये तर्कीय प्रत्यक्षवाद के चक्रवात से लगा कि मनुष्य को उसके तत्त्वमीमांसीय लंगर से काट दिया जायेगा। लेकिन यह बवण्डर जल्द ही शान्त हो गया। तत्त्वमीमांसा ही अतिक्रामी मानवीय जिज्ञासा का विश्रान्ति-स्थल है। अम्बिकादत्त शर्मा (ज. 1960) और संजय कुमार शुक्ल (ज. 1964) ने मिलकर भारतीय दर्शन की दृष्टि से इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन किया है, जिसका शीर्षक है *इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स : ऐन इण्डियन एनकाउण्टर विथ लॉजिकल पॉजिटिविज्म*(2008)। इसमें सम्पादकद्वय ने सशक्त तरीके से यह दिखाया है कि पाश्चात्य परम्परा में स्ट्रॉशन, डेविडसन और पुल्लाम इत्यादि ने जिस तरह तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान को प्रत्युत्तरित किया है वह तत्त्वमीमांसा के बचाव का उचित मार्ग नहीं। यह मार्ग हमें तत्त्वमीमांसा के उस स्वरूप तक नहीं ले जाता जो मानवमात्र की नितान्त आन्तरिक अभीप्साओं के सर्वथा अनुरूप हो। सम्पादक द्वय ने तत्त्वमीमांसा के अर्थ, प्रयोजन और औचित्य पर प्रकाश डालते हुए भारतीय परिप्रेक्ष्य में तत्त्वमीमांसा के पुनरोद्धार की उच्चतर सम्भावनाओं को कई एक समकालीन भारतीय दार्शनिकों के मौलिक लेखन के माध्यम से उद्घाटित किया है। इस ग्रन्थ में इस विषय पर टी.आर.वी. मूर्ति, कालिदास भट्टाचार्य, यशदेव शल्य, याकूब मसीह, जी.सी. पाण्डे, आर.एस. मिश्र, एस.एस. राय, ए.के. चटर्जी एवं डी.एन. द्विवेदी के मौलिक लेखन स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के भावी स्वरूप को लेकर सम्भावनाओं का एक द्वार खोलते हैं।

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थ:

- कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, प्रथम संस्करण (1936) एवं द्वितीय संस्करण(1952), सम्पा. राधाकृष्णन् एवं जे.एच. म्योरहेड.
- रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी, कालिदास भट्टाचार्य, प्रोग्रेसिव पब्लिकेशन, कलकत्ता.
- समकालीन भारतीय दर्शन, के. सच्चिदानन्द मूर्ति, 1962.
- कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, आर.एस. श्रीवास्तव, 1965.
- कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, नागराज राव, 1970.
- रीसेन्ट ट्रेण्ड्स इन इण्डियन फिलॉसफी, के.एस. मूर्ति एवं के.रामकृष्ण राव, 1972.
- कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, वी.के. लाल, 1973.
- कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, मागरेट चटर्जी, 1974.
- इण्डियन फिलॉसफी टुडे, एन.के. देवराज, 1975.

- इण्डियन फिलॉसफी सिन्स इण्डिपेन्डेंस, रिप डेले, 1978.
- इण्डियन फिलॉसफीपास्ट एण्ड फ्यूचर , एस.एस. रामाराव पप्पू एवं आर. पुलिगेन्द्रा, 1982.
- फेसेट्स ऑफ रीसेण्ट इण्डियन फिलॉसफीचार भाग , सम्पा. ए.पी. दुबे, 1954, 98, 99.
- स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-1- समेकित दार्शनिक विमर्श, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2005.
- स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक विमर्श-2- समेकित अद्वैत विमर्श, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2005.
- स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-3- भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2006.
- इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स : ऐन इण्डियन एनकाउण्टर विथ लॉजिकल पॉजिटिविज्म, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा एवं संजय कुमार शुक्ल, 2008.
- भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के द्वारा दी विल्डर्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित सभी पुस्तकें।
- इण्डियन फिलॉसफी इन इंग्लिश : फ्राम रेनेसां टू इण्डिपेन्डेंस, सम्पा. नलिनी भूषण एवं जे.आर. गारफिल्ड, 2011.
- समसामयिक चिन्ताएँ, यशदेव शल्य.

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की ओर

दिनेश मणि*

आर्थिक विकास के लिए ऊर्जा एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। विकास की प्रत्येक स्थिति में किसी भी तरह से ऊर्जा पर निर्भरता रहती है। प्रत्येक क्षेत्रचाहे कृषि उत्पादन में सुधार हेतु उद्योगों को चलाने अथवा दैनिक जीवन स्तर में सुधार के लिए बड़ी मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता है। चूँकि ऊर्जा को आजकल दो भागों में विभाजित करके देखा जाने लगा है यथा परम्परागत ऊर्जा तथा अपरम्परागत ऊर्जा (वैकल्पिक)। परम्परागत ऊर्जा पर हमारी निर्भरता सदियों से रही है लेकिन आजकल सिमटते संसाधनों को देखते हुए परम्परागत क्षेत्र की बजाय अपरम्परागत ऊर्जा पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है। वर्तमान में सरकार इस क्षेत्र पर सभी तरह से प्रोत्साहन देने का प्रयास कर रही है।

आज सम्पूर्ण देश में पारम्परिक ऊर्जा साधनों (तेल) की कमी, बढ़ती कीमतों एवं उनकी अनिश्चित उपलब्धता की वजह से बड़ी समस्या उत्पन्न हो गई है। दूसरी तरफ हमारे तेल स्रोत कम होते जा रहे हैं। जंगल बेरहमी से काटे जा रहे हैं, एवं जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। परम्परागत ऊर्जा साधनों की उपलब्धता के बारे में अनिश्चितता भी बढ़ती जा रही है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए अब हमारे लिए यह जरूरी हो गया है कि हम सौर, वायु और जल जैसे फिर से प्रयोग किए जा सकने वाले साधनों को ज्यादा से ज्यादा काम में लाएँ ताकि परम्परागत ऊर्जा स्रोतों (पेट्रोल, तेल आदि) पर हमारी निर्भरता कम हो सके। ग्रामीण क्षेत्रों में विकेंद्रीकृत ऊर्जा आवश्यकता को पूरा करने के लिए फिर से प्रयोग किए जा सकने वाले ऊर्जा साधनों का विशेष महत्व है जिससे कि परम्परागत ईंधनों की खपत को कम किया जा सके। हमें देश में प्राकृतिक साधनों एवं बहुमूल्य गैस पदार्थों की विशाल धरोहर मिली है। इसका विज्ञान एवं तकनीक की सहायता से बेहतर उपयोग करके ऊर्जा के फिर से

* डॉ. दिनेश मणि, सम्पर्क : डी.एस.सी., पूर्व सम्पादक, "विज्ञान" पत्रिका; संपर्क : 35/3, जवाहर लाल नेहरू रोड जार्ज टाउन, इलाहाबाद-2

प्रयोग किए जा सकने वाले साधनों के इष्टतम उपयोग से ऊर्जा क्षेत्र में तीव्र गति प्राप्त की जा सकती है और इससे राष्ट्र के सामूहिक सामाजिक और आर्थिक विकास में सहायता मिल सकती है। अतः योजना की वैज्ञानिकता और इसके क्रियान्वयन की दृढ़ इच्छाशक्ति के बाद ग्रामीण विकास की विभिन्न प्रविधियों की सफलता के लिए जो चीज सर्वाधिक और बहुत हद तक मूलभूत रूप से आवश्यक है वह है ऊर्जा। भारत में ग्रामीण विकास एक सतत प्रक्रिया है जिसे अनन्त काल तक चलाए रखना भारतवासियों के हक में है। अतएव इसके लिए वांछित ऊर्जा भी सतत उपलब्ध और निरन्तर विद्यमान होनी चाहिए। यह गुण सिर्फ अपरम्परागत स्रोतों से प्राप्त होने वाली ऊर्जा में ही है। यही वजह है कि ग्रामीण विकास में अपारंपरिक ऊर्जा का उपयोग दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

ग्रामीण विकास से सम्बन्धित कार्यों के प्रकार और उनका दायरा इतना बढ़ गया है कि उन सबको सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक ऊर्जा की आवश्यकता है। परन्तु विडम्बना यह है कि ऊर्जा के आधिक्य की जरूरत वाले ऐसे दौर में ऊर्जा निरन्तर अपर्याप्त पड़ती जा रही है। ऐसे में अन्य स्रोतों से ऊर्जा प्राप्त करना जरूरी समझा जाने लगा है क्योंकि न केवल ग्रामीण विकास के कार्य बल्कि गाँवों के रोजमर्रा के कामकाज भी रोके अथवा विलंबित नहीं किए जा सकते। वर्तमान परम्परागत स्रोत से मिलने वाली ऊर्जा काफी न पड़ रही हो तो स्पष्ट है कि अपारंपरिक स्रोत ही इस सम्बन्ध में आशा की किरणें हैं। हाल ही में प्रधानमंत्री ने घोषणा की है कि वर्ष 2012 तक अपरम्परागत ऊर्जा स्रोतों का योगदान भारत के कुल ऊर्जा उत्पादन में 10 प्रतिशत तक किया जाएगा।

भारत जैसे विकासशील देशों के आर्थिक तथा सामाजिक स्तर को सुधारने के तरीकों में से प्रमुख है सौर ऊर्जा का सीधे कार्य में परिवर्तन। अभी तक हमने सौर ऊर्जा का उचित उपयोग नहीं किया है। सूर्य की विकिरित ऊष्मा से यांत्रिक तथा वैद्युत शक्ति प्राप्त करना तथा वाष्प इंजन चलाना तकनीकी दृष्टि से संभव है किन्तु ये सारी विधियाँ सिर्फ भविष्य की आशाएँ हैं, वर्तमान की या भूतकाल की उपलब्धियाँ नहीं। एक प्रभावी यान्त्रिक निकाय विकसित करने में धन से भी अधिक बड़ी बाधा ऊर्जा भण्डारण की समस्या है। जब तक ऊर्जा का उपयोग न करना हो, तब तक इसे पृथ्वी, पानी या अन्य किसी माध्यम से गर्म करके संचित रखना अति आवश्यक है। इस प्रकार भण्डारण की युक्तियाँ अति विशाल तथा कष्टसाध्य हैं, साथ ही इनसे निर्दोष उष्मा-रोधन की समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। वैसे भी, उष्मा-रोधन की अति उत्तम स्थितियों में भी उष्मीय ऊर्जा का क्षय हो जाता है।

दूसरी ओर रासायनिक निकायों का यह अन्तर्निहित लाभ है कि अभिक्रिया उत्पादों का अनिश्चित काल तक भण्डारण किया जा सकता है। अवशोषित ऊर्जा की पुनर्प्राप्ति अभी तक उष्माशोषी अभिक्रिया के प्रतीपन से की जा सकती है। लेकिन

परम्परागत सपाट पट्टिका संग्रहकों में ऐसा नहीं होता है। पट्टिका के कार्यरत माध्यम को बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है तथा साथ ही भण्डारण ताप को बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है, जिनके कारण संग्राहक पट्टिका तथा भण्डारण की क्षमता में कमी आ जाती है। सम्भवतः सौर ऊर्जा के उपयोग में गम्भीरतम समस्याएँ निम्नांकित पर आधारित हैं

1. निरन्तर ऊर्जा आपूर्ति की आवश्यकता,
2. सौर ऊर्जा की अनुपस्थिति में, सम्पूर्ण ऊर्जा की उपलब्धि,
3. सौर-ऊर्जा भण्डारण के किसी उपाय की उपलब्धि।

इनमें तृतीय तथा अन्तिम पहलू विस्तृत है तथा इसके अन्तर्गत सिर्फ वे प्रकाश रासायनिक अभिक्रियाएँ आती हैं जिनमें सूर्य के प्रकाश का उपयोग होता है। सुदूर भविष्य के लिए सौर-ऊर्जा का उपयोग प्रकाश के रूप में अधिक आशाजनक लगता है, उष्मा के रूप में नहीं।

कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार प्रकाश रसायन और ऊर्जा के सदुपयोग की कुंजी है। प्रकाश-रसायन में शोध का उद्देश्य ऐसी अभिक्रियाओं की तलाश है जो सूर्य के प्रकाश से उत्प्रेरित की जा सकें। प्रकाश संश्लेषण में, जिससे हमें सारा भोजन तथा ईंधन प्राप्त होता है, सूर्य प्रकाश का ही सदुपयोग होता है। ऐसी ही अन्य प्रकाश-रासायनिक अभिक्रियाएँ ढूँढना हमारे लिए चुनौती हैं। ये अभिक्रियाएँ बिना उपजाऊ जमीन और हरे पौधों के सूर्य के प्रकाश को ऊर्जा में रूपान्तरित करेंगी।

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों में बायोमास ऊर्जा का प्रयोग नया नहीं है, किन्तु इस ओर वैज्ञानिकों के नए सिरे से आकर्षित होने का कारण यह है कि इस स्रोत की निरन्तरता बनी रहती है तथा इसका पुनर्नवीकरण भी सम्भव है। ऊर्जा की पूर्ति की दृष्टि से लगाई जाने वाली फसलों के लिए दो प्रमुख निर्णायक शर्तें हैं। उनकी शीघ्र वृद्धि क्षमता और अधिकतम उत्पादन। बायोमास की अनेकानेक संभावनाओं को पहचान कर उनके लिए नई तकनीकें और उपयोग की विधियाँ ढूँढ़ी जा चुकी हैं। बायोमास में अन्तर्निहित सम्पूर्ण ऊर्जा शक्ति यदि व्यवस्थित साधनों से सफलतापूर्वक प्रयोग में लाई जा सके तो वह निकट भविष्य में हमारी ऊर्जा सम्बन्धी माँगों के एक भारी प्रतिशत (57%) की पूर्ति करने में समर्थ सिद्ध होगी।

पौधों में ऊर्जा प्राप्त करने के अपने प्रयासों के दौरान वैज्ञानिकों को बहुत से ऐसे पौधों का पता चला है जो सौर ऊर्जा का कुछ भाग हाइड्रोकार्बनों के रूप में संचित करने की क्षमता से युक्त होते हैं। यह खोज इस दृष्टिकोण से भी उपयोगी है कि पेट्रोलियम भी विभिन्न हाइड्रोकार्बनों का जटिल मिश्रण होता है, जिसमें ऊर्जा उत्पादन का सर्वाधिक अंश हाइड्रोकार्बनों का ही है। पिछले दो दशकों से ऊर्जा-संकट की विश्वव्यापी समस्या से निपटने के लिए मनुष्य उन सभी स्रोतों की खोजबीन में लग गया है जिनसे ऊर्जा प्राप्ति की तकनीक भी संभावना है।

पशुओं के गोबर, कृषि तथा उद्योगों के अपशिष्ट एवं घरेलू कूड़े-कचरे से बायोगैस बनाकर ऊर्जा प्राप्त की जाती है। आज के विकसित संयंत्रों में जलकुम्भी, समुद्री शैवाल, सुअरबाड़ों और मुर्गीखानों का कचरा और यहाँ तक कि मानव मल तक का इस्तेमाल भी बायोगैस बनाने में किया जा रहा है। बायोगैस जहाँ एक ओर हमारी ऊर्जा की समस्या का हल प्रस्तुत करती है वहीं व्यर्थ तथा अनुपयोगी अपशिष्ट पदार्थों को इस्तेमाल करके प्रदूषण कम करने में भी सहायक होती है।

ऊर्जा संकट के इस दौर में ऊर्जा के जिन संभावित विकल्पों ने वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया है उनमें पवन ऊर्जा, समुद्र ऊर्जा, ज्वारीय ऊर्जा, भू-तापीय ऊर्जा, हाइड्रोजन ऊर्जा, परमाणु ऊर्जा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बहते पवन वेग में अत्यधिक ऊर्जा समाई होती है। पवन चक्कियों द्वारा इसी ऊर्जा को प्राप्त करके अन्य प्रकार की ऊर्जाओं में परिवर्तित कर लिया जाता है। पवन ऊर्जा के पक्ष में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ऊर्जा का यह साधन सबसे सस्ता, सुलभ और प्रदूषण-रहित है। हमारे देश में कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, राजस्थान और हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों में पवन ऊर्जा का प्रयोग असीमित संभावनाओं से युक्त है।

समुद्र स्वयं में ऊर्जा का विशाल भण्डार सँजोए हुए है। विकसित तकनीकों द्वारा इस ऊर्जा का उपयोग किया जा रहा है। समुद्र उष्मा ऊर्जा रूपान्तरण 'ओटेक' द्वारा समुद्र की विभिन्न परतों के बीच के प्राकृतिक तापान्तर का उपयोग कर विद्युत उत्पादन किया जा रहा है। हमारे देश में राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान द्वारा इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी जैसे कुछ क्षेत्र ओटेक संयंत्रों की स्थापना के लिए बहुत ही उपयुक्त है। ज्वार भाटा से विद्युत ऊर्जा के उत्पादन हेतु विशेष रूप से निर्मित संयंत्रों का उपयोग किया जाता है क्योंकि ज्वार-भाटा में वेग की दिशा तथा क्षेत्र आदि का ध्यान रखना अति आवश्यक है।

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों में भू-तापीय ऊर्जा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साधारणतया भूतापीय ऊर्जा से आशय पृथ्वी के गर्भ में छिपी उस ऊर्जा से है जो सूखी गर्म चट्टानों, ज्वालामुखियों, गर्म जल स्रोतों और तापकुण्डों में संचित है। हमारे देश में भूतापीय ऊर्जा के भण्डार उत्तर पश्चिम हिमालय, पश्चिम घाट, नर्मदा, सोनघाटी और दामोदर घाटी के क्षेत्रों में स्थित हैं। भूतापीय ऊर्जा वर्तमान ऊर्जा संकट का सम्पूर्ण निदान तो नहीं बन सकता किन्तु किसी सीमा तक समस्या को कम अवश्य कर सकता है।

आजकल परमाणु ऊर्जा पर आधारित विद्युत गृह स्थापित किए जा रहे हैं जो ऊर्जा के विकल्प के रूप में महत्वपूर्ण हैं। परमाणु ऊर्जा यूरेनियम, थोरियम, प्लूटोनियम आदि रेडियोधर्मी तत्वों के नाभिकीय विघटन से प्राप्त होती है।

हाइड्रोजन एक बहुत अच्छा ऊर्जा स्रोत हो सकता है क्योंकि यह पृथ्वी पर जल के रूप में अनन्त मात्रा में उपलब्ध है। इस जल से असीमित मात्रा में हाइड्रोजन उत्पादित की जा सकती है। हाइड्रोजन को यदि भविष्य की ऊर्जा कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। निकट भविष्य में जल से हाइड्रोजन बनाने के लिए कुछ सरल तकनीकें खोजी जाएँगी और तब हाइड्रोजन एक सस्ती एवं प्रदूषणरहित ऊर्जा-स्रोत के रूप में प्रचलित हो जाएगी।

बढ़ती जनसंख्या, कृषि गहनता से बढ़ती तीव्रता तथा इसके साथ-साथ पारम्परिक ऊर्जा का दिनोंदिन घटता भण्डार जैसे कारण गैर-परम्परागत ऊर्जा के अधिक से अधिक उत्पादन के लिए प्रेरित करते हैं। यहीं हमें दीर्घकालिक टिकाऊ विकास तथा ऊर्जा सुरक्षा प्रदान कर सकता है। अभी कुल ऊर्जा उत्पादन का 3 प्रतिशत (3,400 मेगावाट) नवीकरणीय स्रोतों से प्राप्त हो रहा है। 2012 तक इसे 10 प्रतिशत तक बढ़ाए जाने की योजना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनुसंधान और विकास कार्यों में तेजी लानी होगी। साथ ही अनुसंधान कार्यों को लयबद्ध करना भी एक उचित तथा सार्थक कदम होगा।

युग निर्माता बाबा साहब डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर और हिन्दी दलित साहित्य

तुकाराम दौड*

युग प्रवर्तक बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकरजी के दलित साहित्य ने मराठी और हिन्दी दलित साहित्य में मानवी चेतना जागृत करने का प्रभावी कार्य किया और दलित समाज की मुक्ति एवं विकास चिन्तन पत्रकारिता और साहित्य के माध्यम से सामाजिक क्रान्ति की विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनकी कलम, देशभक्ति, राष्ट्रवाद और दलित मुक्ति की थी। दलित साहित्य की संवेदनाएँ बाबा साहब अम्बेडकरजी ने प्रस्तुत कीं। पूरे भारतवर्ष में उनके साहित्य का प्रभाव पड़ा। आधुनिक युग में दलित साहित्य परिवर्तन वाले आन्दोलन के लिए महत्वपूर्ण है। सारी दुनिया के समाज चिन्तक एवं समाज सुधारक, पत्रकार, संविधान निर्माता के रूप में उनकी पहचान है।

हिन्दी दलित साहित्य की मानवी चेतना : बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने पत्रकारिता के माध्यम से दलित साहित्य को स्वर देने का प्रयास किया है। हिन्दी साहित्य में दलित लेखन परम्परा को भक्तिकाल तथा उससे भी पूर्ण सिद्ध-नाथ साहित्य तक खोजा उप संकल्प है। महाकवि तुकारामजी के काल में दलित साहित्य की रचना भी की गई। महाकवि संत तुकारामजी ने कहा है कि नव्हे जगी मुकीयाचा कोणजाण। पूरा जगत गुँगों का है। उनकी समझने वाला कौन है। ऐसा तुकारामजी ने अभंग में कहा है। मराठी साहित्य में दलित साहित्य का उद्गम तुकारामजी के काल में हुआ। दलित साहित्य के उद्गाता जगतगुरु संत तुकाराम हैं।

“भक्ति आन्दोलन ने जात पात कुछ पुछे न कोई हरि को भजे सो हरि का होई” कहकर एक क्षेत्र में तो समानता का निर्माण किया किन्तु अन्ततः यह आन्दोलन भिन्न मतों और सम्प्रदायों में बिखर गया। 18वीं शताब्दी से फिर धार्मिक सामाजिक क्षेत्र में कट्टरता बढ़ने लगी और परम्परा खण्डित हो गई है।¹ भक्तियुग में यदि झाँके, तो कई

*प्रा. डॉ. तुकाराम दौड, मु.पो. पानवढोद, ता. सिल्लोड, जि. औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

एक महापुरुष, महाकवि सन्त हुए जैसे कबीर, रैदास (रोहीदास), सन्त तुकाराम, सन्त नामदेव, सन्त सावता माळी, सन्त चोखोबा, सन्त जनाबाई, सन्त बहिणाबाई, सन्त मुक्ताबाई आदि जिन्होंने न सिर्फ विचारों बल्कि आचार-व्यवहार में भी जातीय भेदभाव, ऊँच-नीच और मानवीय शोषण का प्रतिकार किया। कबीर ने “जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार का पड़ा रहे दो म्यान।”² कहकर मनुष्य के सदगुणों को उसकी जाति से अधिक महत्वपूर्ण माना गया। “उनकी अभिव्यक्ति में जात-पाँत पर कड़े व्यंग्यवाणों का प्रयोग बहुतायत में था।”³ जो भक्ति आन्दोलन से आया था। अब ऐसा ही आन्दोलन महाराष्ट्र से मराठी में आया और मराठी से हिन्दी में आता दिखाई देता है। अभी तक हिन्दी भाषा में सामाजिक अन्याय के विरोध में जो दलित संवेदन का लेखन मिलता है, वह प्रायः उदारवादी, प्रतिबद्ध मानवीय तथा प्रगतिशील सवर्ण लेखन ही है। हिन्दी भाषा में दलित बुद्धिजीवी द्वारा लिखा गया साहित्य लगभग न के बराबर है। दलित पत्रकारिता का बड़े मीडिया कारोबार में स्थान नगण्य है। साहित्य तो दूर की बात है। कोई गैर दलित व्यक्ति दलित समाज की संवेदनाओं को चित्रित करता है तो उसको वह न्याय नहीं दे सकता। अनुभवों के आधार पर उतना सटीक चित्रण कर सकता है। जितना की स्वयं एक दलित लेखक ऐसा समझ जाता है कि दलित साहित्यकार के साथ उसके अनुभव एवं उसका परिवेश भी साहित्य में चला जाता है। ऐसे लेखन की वैधता अधिक युक्तिसंगत होती है। हालाँकि जिस जन्म आधारित व्यवस्था के विशेष विरोध में दलित लेखन को खड़ा करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रस्थापित व्यवस्था के ऊपर प्रहार किया जा रहा है।

आज मूल निवासी साहित्य के एकमात्र प्रवर्तक डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर एक दीप स्तम्भ के रूप में सामने आए हैं। भारत में तेजी से उभरते मराठी और हिन्दी दलित साहित्य में अम्बेडकरजी के विचार प्रेरणादायक रहे हैं। यदि हम पिछले सौ डेढ़ सौ वर्ष के इतिहास पर दृष्टि डाले तो महात्मा फुले, प्रेमचन्द, महात्मा गाँधी, भीमराव अम्बेडकर आदि कई प्रमुख व्यक्तियों को दलित संवेदनाओं का स्वर देने में प्रयासरत पाएँगे। “दलित आन्दोलन के जन्म स्थल में महात्मा ज्योतिबा फुले ने दलितों की व्यथा कथा अपने विचारों, ग्रन्थों, लेखों के माध्यम से सशक्त ढंग से उठाई।”⁴ उनकी पुस्तक ‘गुलामगिरी’ विशेष उल्लेखनीय है। “हिन्दी भाषा में यदि देखा जाए तो प्रेमचन्द निर्विवाद रूप से ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने साहित्य में दलित प्रश्न पर गहनता से विचार किया।”⁵ प्रेमचंद का जैसा महत्त्व हम आज के जमाने में देखते हैं वह दलित चेतना में आए उभार से सम्भव हुआ। “उनकी अनेक कहानियों जैसे ‘ठाकुर का कुआँ’, ‘सद्गति’, ‘कफन’ या फिर कालजयी उपन्यास ‘गोदान’ सभी ने दलित समाज की दुर्दशा को सशक्त ढंग से उकेरा। प्रेमचंद दलित समस्या को बृहत्तर सन्दर्भ में ले रहे थे। वह समझते थे कि दलितों की पक्षधरता के साथ-साथ वर्णव्यवस्था के मूल ब्राह्मणवाद पर प्रहार किए बिना काम नहीं चलेगा। इसलिए वह कई बार ब्राह्मणवाद

को नियन्त्रण जैसी रचनाओं के जरिए हास्यास्पद बनाते हैं। तो कई बार आगे बढ़कर उसी पर सीधा हमला कर देते हैं।⁶ प्रेमचन्द के अतिरिक्त निराला, नागार्जुन, कमलेश्वर आदि रचनाकारों ने ही दलित वेदना का विषय बनाकर रचनाएँ बनाई और हिन्दी दलित साहित्य में नई मानवी चेतना पैदा की। मराठी ने दलित साहित्य को दबाने का प्रयास किया। कमलेश्वरजी ने दलित साहित्य को प्राथमिकता दी। 'सारिका', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं में दलितों की समस्याओं पर प्रकाश डाला। सारिका आँसू है। वेश्याओं के दलितों का दर्द है। कमलेश्वरजी का मानना था कि "समान्तर लेखन और आन्दोलन मात्र हिन्दी या भारतीय भाषाओं का आन्दोलन नहीं, बल्कि यह रचनात्मक साहित्य के जरिए तीसरी दुनिया की मुक्ति चेतना के आन्दोलन का हिस्सा था।"⁷ प्रेमचंद के बाद फिर से किसी प्रदेश का सामान्य व्यक्ति समूचे भारतवर्ष का सामान्य व्यक्ति बना था। समूचे भारतवर्ष को जोड़ने का प्रयास कमलेश्वरजी ने साहित्य सृजन द्वारा किया और दलित साहित्य के प्रति मानवी चेतनाओं को जागृत किया। दलित साहित्य में प्रेमचन्द के बाद मानवी चेतना निर्माण में कमलेश्वरजी का पक्षधर के रूप में उल्लेखनीय योगदान है। उनके द्वारा दलित विमर्श पर निकाले गए विशेषांक तो आज मील का पत्थर माने जाते हैं।

बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की पत्रकारिता और साहित्य : महाराष्ट्र में महात्मा फुले, सावित्रीबाई फुले और राजे छत्रपती शाहू महाराज के विचारों को आगे बढ़ाने का कार्य डॉ. अम्बेडकरजी ने किया है। दलित वर्ग के उत्थान के लिए 1920 में डॉ. भीमराव अम्बेडकरजी ने 'मूकनायक' समाचार पत्र प्रकाशित किया। अम्बेडकर के भारतीय राजनीति में उदय ने पूरी दलित समस्याओं को बहुआयामी गतिशीलता प्रदान की। दलित आन्दोलन पूरी ताकत के साथ भारतीय समाज व्यवस्था में गरिमापूर्ण स्थान प्राप्त करने के लक्ष्य से परिचलित हुआ। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी द्वारा "दलित पीड़ित समाज के अधिकारों की लड़ाई में पूरा सहयोग किया जाने से यह आन्दोलन एक बहुत सामाजिक न्याय आन्दोलन के रूप में खड़ा हुआ।"⁸ पत्रकारिता एवं साहित्य के स्वाभाविक सहकार से दलित विचारों को प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति मिलना प्रारम्भ हुआ। दलित समाज अब अपने राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकारों के मुख्य रूप से सामने आया। ऐसे में पत्रकारिता एवं साहित्य पर भी इनका स्पष्ट प्रभाव पड़ा। "1933 और 1940 के बीच भारत की जनता के लिए 'हरिजन' (अंग्रेजी), 'हरिजन बंधु' (गुजराती) और 'हरिजन सेवक' (हिन्दी) महात्मा की वाणी बन गए। इन अखबारों ने पाया कि, महात्मा गाँधी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं।"⁹ भारत के कमजोर लोगों ने अपना सन्देश पहुँचाने के लिए पत्रकारिता को सशक्त माध्यम बनाया। "गाँधीजी ने 'हरिजन' नामक पत्र निकाला जिसमें दलित समाज की समस्याओं को उठाया गया तथा साथ ही इनके निवारण में समूचे हिन्दू समाज से सहयोग की गुहार भी लगाई गई।"¹⁰ छुआछूत,

भेदभाव व सामाजिक साहचर्य के सम्बन्ध में गाँधीजी का लेखन दलित आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर ने भी कमजोर वर्गों की कठिनाइयों को केन्द्र बनाकर कुछ एक अखबार निकाले जैसे "1920 में अम्बेडकर जी ने 'मूकनायक' का श्री गणेश किया। अछूतों की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए उन्होंने 'बहिष्कृत भारत' का प्रकाशन अप्रैल 1927 से शुरू किया। 'जनता' साप्ताहिक नवम्बर 1920 में तथा मार्च 1924 में समता समाज की स्थापना के लिए समता पत्रिका का प्रकाशन किया।"¹¹ पत्रकारिता के माध्यम से बहुजन समाज को दिशा देने का कार्य डॉ. अम्बेडकरजी ने किया और अम्बेडकरी विचारधारा की प्रेरणा से दलित साहित्य का उदय हुआ। बाबासाहब ने कई ग्रन्थ लिखे, जिसकी विषय वस्तु के केन्द्र में दलित प्रश्न था तथा जिसमें समस्याओं की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। जैसे *द बुद्ध एंड हिज धम्मा; जाति प्रथा का उन्मूलन; गाँधी और अछूतों का उत्थान; अछूत कौन, कैसे; शूद्र कौन एवं हिन्दुत्व की पहलियाँ*; आदि में।¹² इन ग्रन्थों का भारतीय अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया। हिन्दी, तेलुगु, तमिल, पंजाबी भाषाओं में डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर का साहित्य और विचारधारा को प्रस्तुत किया गया और पूरे देश में बुद्ध धर्म और अम्बेडकरी साहित्य ने मानवी चेतना पैदा की। देश के किसी भी महापुरुषों पर अम्बेडकर जैसी साहित्य सम्पदा मौजूद नहीं है। देश के सभी भाषाई पत्रकारिता में दलित साहित्य को प्राथमिकता मिलने लगी है। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समाचार पत्रों में दलित साहित्य को महत्त्व दिया जा रहा है और देश की सभी भाषाओं में दलित साहित्य का निर्माण हुआ है। इसके पीछे डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा और दीपस्तंभ के रूप में उनकी विचारधारा कारण हैं। नई पीढ़ियाँ दलित साहित्य का निर्माण कर रही हैं। आज भी कई पत्रिकाएँ सामाजिक न्याय की लड़ाई में बढ़-चढ़कर योगदान कर रही हैं तथा मनुष्य की समानता के विचारों को प्रचारित-प्रसारित करने का काम कर रही हैं। मराठी पत्रकारिता के साथ हिन्दी पत्रकारिता में दलित साहित्य के अनुरूप मानवी चेतना पैदा करने का कार्य भारतीय पत्रकारिता और मराठी पत्रकारिता कर रही है।

हिन्दी दलित साहित्यिक पत्रकारिता : भारतीय पत्रकारिता विशेषकर हिन्दी पत्रकारिता में दलित साहित्य का उद्गम एवं विकास संघर्ष एक लम्बी कहानी है जिसके पीछे डॉ. भीमराव अम्बेडकर तेजस्वी पत्रकारिता एवं दलित पत्रकारों की साधना तथा त्याग तपस्या है। "पत्रकारिता के क्षेत्र में दयाल विरागी उरई निवासी थे। उन्होंने 'मूल भारतीय जागरण' नामक पत्रिका का सम्पादन एवं प्रकाशन किया।"¹³ डॉ. एल.आर. बाली ने जालंधर से 'भीम पत्रिका' मासिक हिन्दी भाषा में शुरू किया। कानपुर से आर.एल. कमलजी ने 'निर्णायक भीम' पत्रिका का प्रारम्भ किया। अलीगढ़ से 'रिपब्लिकन सन्देश' और 'निर्णायक भीम' नाम की पत्रिका प्रकाशित की और लखनऊ से 'बहुजन' साप्ताहिक और 'दलित चेतना' साप्ताहिक का प्रकाशन किया।

‘गरिमा भारती’ साप्ताहिक लखनऊ, ‘नागटाईम्स’ सीतापुर से डॉ.टी.पी. आजाद प्रकाशित करते हैं। कुशीनगर से श्री दयानाथ निगम ने ‘अम्बेडकर इन इंडिया’ मासिक पत्रिका का सम्पादन किया। भूतपूर्व सांसद श्री सी.पी. सैलानी ने दिल्ली से ‘प्रबुद्ध जगत’ और श्री के.पी. बन्धु ने ‘युग उद्बोधन’ पत्रिका का सम्पादन किया। बिहार राज्य के पटना से भिक्षु डॉ. करुणाकर ‘बौद्धबिहार’ और श्री बुद्ध शरण हंस ‘अम्बेडकर मिशन’ पत्रिका का सम्पादन करते हैं। यहाँ से ‘शम्बूक’ और ‘अख लाख’ पत्रिका प्रकाशित होती है। “गाजियाबाद से श्री महीपाल सिंहजी द्वारा ‘दलित टुडे’ नामक हिन्दी साहित्य की पत्रिका प्रकाशित की जाती है। हिन्दी के शोध-पत्रिकाओं में उज्जैन से त्रैमासिक ‘पूर्वदेवा’ मुख्य रूप से प्रकाशित होती है। इसके अलावा ‘माझी जनता’ (मेरी जनता), सम्पादक श्री शालीग्राम ढोरे (नागपुर), ‘अनार्य भारत’, सम्पादक, ‘श्री एस.एल. सागर (मैनपुरी), ‘अप्पदीपो भव सन्देश’, सम्पादक, आदर्श (रायबरेली) ‘वीर मुल’ सम्पादक श्रीमती सन्तोष लाल (लखनऊ) आदि पत्र-पत्रिकाओं का यशस्विता से प्रकाशन किया जाता है।”¹⁴ हिन्दी साहित्य में दलित साहित्यकारों का नाम आदर से लिया जाता है। बीसवीं शताब्दी के हिन्दी दलित साहित्यिक और पत्रकारों और सम्पादकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। दलित साहित्य ने गद्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कवि और साहित्यकार भी दलित साहित्य से जुड़े रहे। नई पीढ़ियों को डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदर्श पत्रकार के रूप में हमें सदैव प्रेरणा देते रहेंगे।

दलित साहित्य की रचनाएँ : हिन्दी पत्रकारिता में आज कई पत्र-पत्रिकाएँ सामाजिक न्याय की लड़ाई करने के लिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों को आगे बढ़ाती रही। ‘दिनमान’, साप्ताहिक ‘धर्मयुग’ में समाज में घटित होनेवाली घटनाओं को केन्द्र में रखकर असमतावादी विचारों की पोल खोलने का प्रयास किया जाता रहा। हाल फिलहाल ‘हंस’ जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं में दलित विमर्श को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है। ‘माधुरी’, ‘सारिका’ पत्रिकाओं में भी दलित साहित्य को प्राथमिकता दी जाती रही है। कमलेश्वर जी ने दलित विमर्श पर ‘सारिका’ का विशेषांक प्रकाशित किया था। जिससे हिन्दी दलित साहित्य के बारे में लोगों में जागरूकता पैदा हुई। कवियों, रचनाकारों, उपन्यासकारों ने हिन्दी दलित साहित्य पर प्रकाश डाला। इस समय हिन्दी में कुछ अच्छे दलित रचनाकारों की सुखद मौजूदगी ने दलित विमर्श को न सिर्फ अपेक्षित गम्भीरता प्रदान की है, बल्कि इसे नई धार भी दी है। हिन्दी भाषा में दलित साहित्य की सुव्यवस्थित शुरुआत करने का श्रेय काफी हद तक मराठी भाषा के दलित लेखकों की कृतियों/रचनाओं के हिन्दी अनुवाद को है।

इधर हिन्दी में कई अच्छी किताबें-ग्रन्थ आये हैं, जिनमें दलित समस्या को अधिक सूझबूझ और विचारणीय ढंग से उठाया गया है और जो साहित्यिक अभिव्यक्ति में दलितों की भागीदारी बढ़ाने का प्रमाण भी हैं। “दूसरी दुनिया का यथार्थ” नामक

कहानी-संग्रह में 29 कहानियाँ संगृहीत हैं, जिसमें 18 दलित साहित्यकार हैं, 8 पिछड़ा वर्ग के हैं तथा 3 सवर्ण हैं।¹⁵ कई नामी दलितवर्गी साहित्यकारों, उपन्यासकारों, अनुवादक पत्रकारों ने आत्मकथात्मक शैली में रचना करके दलित संवेदना को जीवन्तता के साथ ही आक्रामकता के तेवर प्रदान किए हैं। विख्यात जर्मन प्रोटेस्टटर मार्टिन लूथर ने ‘पाप विमोचन पत्र’ को जलाकर यूरोप में धर्मक्रान्ति का आरम्भ किया था। अमेरिका में भी दलित साहित्य का श्वेत गुलामों के ऊपर साहित्य रचनाएँ की गई हैं। सारी दुनिया में अम्बेडकर विचारधारा का प्रचार-प्रसार साहित्य के माध्यम से होने लगा है, इसलिए अम्बेडकर को भारत का मार्टिन लूथर भी कहा जाता है। दलित साहित्य की नई पीढ़ियों सारे संसार को नया आयाम देने लगी हैं और दलित संवेदनाओं को जागरूक करने का प्रयास कर रही हैं। वर्तमान में जिन दलित साहित्यकारों का नाम लिया जा सकता है, उनमें प्रमुख हैं मराठी साहित्य में डॉ. गंगाधर पानतावणे, डॉ. हरी नरके, डॉ. भाऊ लोखंडे, नामदेव ढसाळ, लक्ष्मण माने, दया पवार, बलुत, शरणकुमार लिंबाले, डॉ. नंदा मेश्राम, प्रा. डॉ. ऋषीकेश कांबळे, डॉ. केशव मेश्राम, डॉ. यशवंत मनोहर, अण्णाभाऊ साठे, मा.मा. देशमुख, प्र.ई. सोनकांबळे, लक्ष्मण गायकवाड, माधव कोंडीलकर, डॉ. त्रिलोक हजारे, उत्तम कांबले, प्रा. डॉ. अ. ह. सालूके, भालचंद्र मुणगेकर, लक्ष्मण थोरात, सिद्धार्थ रामटेके, नरेंद्र जाधव आदि जिन्होंने दलित साहित्य लिखकर मराठी भाषा में समृद्धता लाने के लिए योगदान दिया है।

1918 में ‘आदि हिन्दू’ नामक पत्रिका प्रकाशित हुई। उत्तरप्रदेश के हिन्दी भाषा में दलित साहित्य रचनाकार अछूतानन्द हरिहर प्रथम दलित हिन्दी साहित्यकार एवं पत्रकार थे।¹⁶ उन्होंने ‘रामराज्य न्यायनाटक शम्बूक देहान्त’ लिखा था। दूसरे पीढ़ी के दलित साहित्यकार “स्वामी रामचरण कुरील कानपुर के निवासी थे। ‘भगवान रविदास सत्यकथा सत्यनारायण कथा’ इस कथा से दलितों को कोई लाभ नहीं है। इससे किसी से भी ज्ञान नहीं मिलेगा।”¹⁷ दलितों को इस कथा का सन्देश एवं गायन देने का कार्य स्वामी जी ने किया। “शंकरानन्द शास्त्री जी ने कर्नाटक राज्य में दलित साहित्य को बढ़ावा दिया; ‘पूना पैकट बनाम गाँधी’, ‘सम्मान के लिए धर्म परिवर्तन करें’, ‘ईश्वर चक्र, धर्मचक्र और चुनाव चक्र’, ‘बौद्ध धर्म से जय मंगल (विवाह) पद्धति’, ‘बौद्धधर्म में पुनर्जन्म, मंगल और अमंगल कर्म’, ‘पंचशील क्यों और किस लिए’, ‘युग पुरुष बाबा साहब डॉ. अंबेडकर’ आदि ग्रन्थों की रचनाएँ की।”¹⁸ बाबासाहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन में दलितों की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। सोहनलाल शास्त्रीजी ने दलित साहित्य की नई रचनाएँ कीं। “बाबासाहब के सम्पर्क में पचास वर्ष”, ‘भारत में बोधिवृक्ष कैसे सूखा?’ ‘हिन्दू समाज रचना, दलित की कसौटी पर’, ‘दलित रोग विनाशक औषधि, बुद्ध धर्म, दीक्षा’ आदि ग्रन्थों का निर्माण सोहनलाल शास्त्रीजी ने किया।¹⁹ ललई सिंह यादवजी ने

सच्ची रामायण के ऊपर प्रकाश डाला; इसमें दलित साहित्य के प्रतिबिम्ब पर प्रकाश डाला। दूसरे पीढ़ी के दलित लेखकों एवं साहित्यकारों ने शोध अध्ययन कर ग्रन्थों का निर्माण किया है। ये डॉ. भीमराव अम्बेडकर के ग्रन्थों से सम्बन्धित रहे हैं। डॉ. डी. आर. जाटवजी ने 'डॉ.बी.आर. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन', 'डॉ. अम्बेडकर का राजनैतिक दर्शन', 'डॉ. अम्बेडकर के आलोचक', 'डॉ. अम्बेडकर का जीवन चरित्र' आदि ग्रन्थों का समावेश किया। डॉ. अंगने लाल जी भारतीय संविधान निर्माता बाबासाहब अम्बेडकर की बौद्ध दीक्षा अभियान से प्रभावित हुए; उन्होंने बौद्ध धर्म के ऊपर हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखे हैं।²⁰ हिन्दी भाषा में दलित साहित्य का विकास हो रहा है। उसमें अश्वघोष कालीन भारत, संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, बौद्ध संस्कृति, अम्बेडकरी बौद्ध आन्दोलन के पंचवर्गीय भिक्षु, बौद्ध दीक्षा विधि, बुद्ध शासन के रत्न डॉ. बी.आर. अम्बेडकर की जीवनी आदि ग्रन्थों का निर्माण किया गया और इस कथा में रामायण कालीन शम्बूक मुनि के तपस्वर्या का अध्याय प्रस्तुत किया गया है। दूसरे चरण में सुपा ऋषि और एकलव्य की कथाएँ हैं। तीसरे अध्याय में मध्ययुगीन दलित समाज के संत शिरोमणि रैदास की कथा है। चौथे चरण में आधुनिक युग के बोधिसत्व डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जीवन परिचय सम्मिलित है। डॉ. गया प्रसाद प्रशान्त और माता प्रसाद ये हिन्दी के दलित साहित्यकार हैं। डॉ. प्रशान्त जी ने 'वोट की कीमत समझो', 'भीम चेतावनी', 'भीम गीतावली', 'बुद्ध ने कहा था', 'पंचायती समाज', 'शोषण-शोषित संवाद', 'बौद्ध की साकेत अयोध्या', 'अम्बेडकर इन्कलाब', 'दलित और पिछड़े इतिहास के आइने में', 'धर्म की आड़ में' आदि ग्रन्थों का लेखन किया है। माता प्रसादजी अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल थे। इस दौरान उन्होंने 'अछूत का बेटा', 'धर्म के नाम पर धोखा', 'झलकारी बाई', 'धर्म परिवर्तन', 'एकलव्य' (खण्डकाव्य), 'भीमदशक', 'उत्तर प्रदेश में दलित जातियों का दस्तावेज', 'एकान्त हीन बेडिया', 'तड़प मुक्ति की', 'दलित काव्यधारा' आदि रचनाएँ एवं कृतियाँ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हैं। मोतीराम शास्त्री जी ने 'बौद्ध शिविर सहारा' ग्रन्थ लिखा और 'दलित चेतना' पत्रिका का सम्पादन किया। मंगलदेव विशारद जी ने 'कमाने वाला', 'चेतना और संघर्ष', 'सर्वहारा न्यायपथ' और 'भूलो मत' आदि ग्रन्थों का लेखन किया। तीसरे पीढ़ी के दलित साहित्यकारों ने विद्रोही साहित्य का निर्माण किया। दलित कथा, काव्य, आत्मकथाएँ, उपन्यास, गीत, आदि कृतियों पर आधारित ग्रन्थों की रचना की है। उनमें रामनिहोर विमल, बुद्धशरण हंस, सूरजपाल चौहान, प्रसाद राही, जियालाल आर्य प्रमुख हैं। दलित नारी की समस्याओं पर दलित महिला साहित्यकारों श्रीमती मीना कुमारी बोधी, डॉ. डी. एस. अशोक, कँवल भारती, सुशीला टाकभौरे वंचित और उपेक्षित नारी समाज पर प्रकाश डाला। काव्य रचनाओं के क्षेत्र में हिन्दी के दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य सम्पदा की रचनाएँ की हैं। उनमें रामभरोसे लाल, सुरेश उजाला, कालीचरण, गुरुप्रसाद मदन, एम.ए. प्रेमी, होरीलाल सहस्रबुद्धे, बलवन्तराय,

डॉ. चिरंजीव लाल चंचल, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्योराज सिंह बेचैन, भागीरथ मेघावाल, रजत रानी 'मीनू', डॉ. दयानन्द बटरोही, लक्ष्मीचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इन लेखकों के साहित्य कर्म से दलित साहित्य की मौलिकता को लेकर लगनेवाले आरोपों को भी काफी हद तक दूर किया जा सकता है। हम यह आशा कर सकते हैं कि इस शताब्दी में हिन्दी भाषा में दलित लेखन और आन्दोलन अधिक सबल, प्रौढ़ होकर अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने में सफल होगा। देश की हिन्दी पत्रकारिता में राष्ट्रीय, भाषाई समाचार पत्र, पत्र-पत्रिकाएँ, दलित साहित्य/रचनाओं को प्रकाशित करने लगी हैं और महिला दलित साहित्यकारों की रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। दलित समाज की चर्चा करते समय उनकी समस्याओं, प्रश्नों की चर्चा की जा रही है। "दलित महिलाओं के कष्टों व उनकी समस्याओं के साथ एकत्व में देखा जाएगा। ऐसे समय में जब भारत की संसद महिलाओं को विधायिका में 33 टक्के आरक्षण दे पाने में कठिनाई महसूस कर रही है। तब दूसरे अखिल भारतीय दलित लेखिका सम्मेलन के विचार विमर्श से उठे उपयुक्त प्रश्न प्रासंगिक हैं।"²¹ हिन्दी समाचार पत्रों में इन जनहित और सार्वजनिक मुद्दों पर पत्रकारों से लिखाना चाहिए। यह समय की आवश्यकता है। तभी दलित लेखन और आन्दोलन सक्षम होगा और दलितों का विकास होगा। आज अधिक बेबाकी से लिखने की आवश्यकता है।

हिन्दी दलित साहित्य एवं पत्रकारिता में डॉ. भीमराव अम्बेडकरजी के लेखन का प्रभाव पड़ा है।

सन्दर्भ

1. निशिकांत ठकार *दलित कथा : व्यथा की कथा*, हंस, मार्च 1994, पृ. 62
2. आशा गुप्ता *हिन्दी पत्रकारिता की विकास यात्रा*, पृ. 133
3. *कबीर की छहसौवीं जयन्ती पर अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी* दिसम्बर, 4-6-1999, स्वतन्त्रता भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी; रपट साभार
4. मोहनदास नैमिशराय *दलित पत्रकारिता सामाजिक व राजनैतिक चिन्तन*, श्रीनटराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005
5. प्रो. रमेश जैन *जनसंचार एवं पत्रकारिता*, पृ. 100
6. अखिलेश *ध्वस्त महानताएँ और प्रेमचन्द*, राष्ट्रीय सहारा, लखनऊ, 29 जुलाई, 1998
7. कमलेश्वर *जो मैंने जिया*, मुख्य पृष्ठ से
8. आशा गुप्ता *हिन्दी पत्रकारिता का विकास*, पृ. 137
9. वी.एन.नारायण *महात्मा 20वीं सदी के सबसे प्रभावी जनमाध्यम*, समागम पत्रिका, जनवरी 2011, पृ. 7
10. आशा गुप्ता *हिन्दी पत्रकारिता का विकास*, पृ. 135
11. सम्पादक *प्रेमचन्द पातंजलीमीडिया के पचास वर्ष*, पृ. 144

12. भगवानदास वंचितांचा मुक्तिदाता डॉ. अम्बेडकर, लोकराज्य विशेषांक, अक्टूबर, 2006, पृ. 29-30
13. डॉ. अंगनेवाल डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर प्रेरित हिन्दी साहित्य, लोकराज्य विशेषांक अक्टूबर 2006, पृ. 38
14. वही, पृ. 38
15. श्योराज सिंह बैचैन का लेख, राष्ट्रीय सहारा, 25 जुलाई, 1997
16. डॉ. अंगनेवाल डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर प्रेरित हिन्दी साहित्य, लोकराज्य विशेषांक अक्टूबर 2006, पृ. 38
17. वही, पृ. 37
18. वही, पृ. 37
19. वही, पृ. 37
20. वही, पृ. 37
21. दूसरा अखिल भारतीय दलित सम्मेलन और चेतन-क्रान्ति, समकालीन जनमत, 23 फरवरी, 1996, पृ. 33

शान्त रस सन्दर्भ : संगीत कला

योगेश शर्मा*

भरतमुनि ने *नाट्यशास्त्र* में कला एवं कलानुभव के सभी पक्षों पर विस्तार से विचार किया है। काव्य, मूर्ति एवं संगीत कला को उनके द्वारा रसानुभव के प्रमुख साधन के रूप में उल्लिखित किया गया है। *नाट्यशास्त्र* के 28-32 अध्यायों में संगीत कला का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। सप्त स्वर विधान एवं उनसे सम्बद्ध रसादि का विशिष्ट उल्लेख भी इस शास्त्र में किया गया है।

वैसे संगीत का ऐतिहासिक क्रम ऋग्वेदादि से आरम्भ हो जाता है। वेदों के मन्त्र का स्वरबद्ध पाठ एवं विभिन्न शाखाओं की उपस्थिति (आश्वालायनादि) इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि साहित्य एवं संगीत का सम्बन्ध वेदादि से ही है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में 'सामन्' शब्द का उल्लेख है।¹ *यजुर्वेद* में वैराज² वृहत रथन्तर³ एवं अन्य बहुत से⁴ सामनों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में विविध वाद्य यन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे दुन्दुभि, वीणा, कर्करी, क्षोणी आदि⁵ अतः स्पष्ट होता है कि संगीत का आरम्भ ऋग्वेदादि से ही है। सामवेद तो पृथक् रूप से संगीतशास्त्र की व्याख्या करने वाला स्वतन्त्र ग्रन्थ है। सामवेद के उपवेद को गान्धर्ववेद के रूप में जाना जाता है। ऋग्वेद में गान के लिए तीन स्वरों का विधान है जिसे सामवेद में सात स्वरों में निबद्ध किया गया। तीन स्वरों में उदात्त, अनुदात्त स्वरित हैं। पाणिनीय-शिक्षा के अनुसार सात स्वरों का विकास हुआ। उनके मतानुसार निषाद और गान्धार उदात्त पर ऋषभ और धैवत अनुदात्त पर एवं षड्ज मध्यम तथा पंचम स्वरित पर आधारित है।⁶ (उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभवा होते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥) ब्राह्मणोपनिषद् आदि ग्रन्थों में संगीतादि शास्त्रों का पर्याप्त विवरण है। पाणिनिकालीन आचार्य नन्दिकेश्वर ने भी संगीत का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने संगीत के सात स्वरों⁷ के अतिरिक्त शुद्ध स्वर एवं विकृत स्वर के भेद का भी अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है। उन्होंने स्वरों का प्रतिपादन श्रुति व्यवस्था के आधार पर

*विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

किया है। नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों में प्रथम चार सूत्रों की व्याख्या स्वर एवं ताल के दृष्टिकोण के आधार पर की ही है। प्रथम सूत्र (अ इ उ ण्) में अ, इ, उ में तीन लघु स्वर हैं। इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की एक इकाई है। इन्हीं को क्रमशः षड्ज, ऋषभ एवं गान्धार कहते हैं।⁸ इसी प्रकार तृतीय सूत्र (ए ओ ड) में ए, ओ, ये दो दीर्घ स्वर हैं, इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की दो इकाईयाँ हैं। इन्हें ही क्रमशः मध्यम एवं पंचम कहते हैं।⁹ इसी प्रकार चतुर्थ सूत्र (ऐ औ च्) में ऐ, औ ये दोनों अतिदीर्घ स्वर हैं। इनका उच्चारण-काल सांगीतिक समय की तीन इकाईयाँ। इन्हें क्रमशः धैवत एवं निषाद कहा जाता है।¹⁰

इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों के आधार पर सांगीतिक स्वरों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार मूलतः तीन स्वर हैं उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। इनमें उच्चत्व के कारण चतुःश्रुति स्वर को उदात्त, नीचैस्त्व के कारण द्विश्रुति स्वर अनुदात्त तथा मध्यवर्ती होने के कारण त्रिश्रुति स्वरित कहलाते हैं।¹¹ आचार्य भरतमुनि एवं नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने संगीत के अन्य कई संगीताचार्यों का उल्लेख किया है उनमें नारद, दत्तिल, कश्यप, शार्दूल आदि हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने *अभिनवभारती* में शैव दार्शनिक उत्पलाचार्य का भी उल्लेख किया है।¹² जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि उत्पलाचार्य ने *नाट्यशास्त्र* के कुछ अध्यायों पर टीका अवश्य लिखी होगी। संगीताचार्यों की इस परम्परा में अभिनवगुप्त पादाचार्य बहुत बड़े संगीतकार माने गए हैं। अभिनव गुप्त पादाचार्य बहुत बड़े संगीतज्ञ माने गए हैं। अभिनव गुप्त ने सांगीतिक तत्त्वों का वर्णन ही नहीं किया अपितु संगीत के दार्शनिक एवं रसात्मक स्वरूप का भी विशदता से विश्लेषण किया है। तन्त्रालोक के दसवें आह्निक में 16 कलाओं को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने स्वरों का व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से विवेचन किया है एवं संगीत का भावों एवं रसों से स्पष्टतः सम्बन्ध व्यक्त किया है। स्वर के सम्बन्धों में उनका मत इस प्रकार है

कलाओं की जब अनुत्तरीय अकार इत्यादि परामर्श द्वारा केवल आनन्दमयी चित्तवृत्ति को अभिव्यक्त करने की भूमिका होती है तब वे स्वर कहलाती हैं। अर्थात् अकार इत्यादि परामर्श जब तक बाहरी ध्वनि रूप पर न पहुँच आन्तरिक परामर्श के रूप में वर्तमान हों तब तक कला कहलाते हैं। जब बाहरी ध्वनियों का रूप धारण करके मन की आनन्दात्मिका वृत्ति को अभिव्यक्त करने लगते हैं तब स्वर कहलाते हैं।¹³

यह मत कला के आध्यात्मिक स्वरूप को व्यक्त करता है। साथ ही संगीत के दार्शनिक महत्त्व एवं उसकी सृष्टि का प्रकाशन करता है। कला से स्वर का क्रम परमशिव की विमर्शशक्ति का परिचायक है। जिसका सम्बन्ध कलाकार/परमशिव आदि से है। दूसरा क्रम स्वर से कला का है जो निमेष, लय, विश्रान्ति को व्यक्त करता है जिसका सम्बन्ध सहृदय प्रमाता से है। स्वर संधान से वह परमशिवमयता को प्राप्त

करता है। अतः इससे कला एवं संगीत का स्वरूप तो स्पष्ट रूप से परमानन्दमय एवं परमशान्त रूप में परिलक्षित होता है। *परात्रिंशिका*¹⁴ में स्वर की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है।

1. स्वरयन्तिशब्दयन्ति सूचयन्ति चित्तम्
2. स्वं च स्वरूपमूआत्मानं, रान्तिएवं पर प्रमातरि सङ्गमयन्तो ददति
3. स्वं चआत्मीयं कादियोनिरूपमं, रान्तिबहिः प्रकाशयन्तो ददति इति

स्वराः।

अर्थात्स्वर स्वरता या शब्दन का आचरण करते हैं अर्थात् आह्लादमयी वृत्ति से परिपूर्ण चित्त को सूचित करते हैं। संहारदशा में अपने स्वरूप का पर प्रमाता में सङ्कनात करते हुए, अपना सर्वस्व उसी को देते हैं अर्थात् पूर्णरूप से अनुत्तर पद में ही लीन हो जाते हैं। प्रसार दशा में अपने स्वरूप से बिलकुल अभिन्न 'ककार' इत्यादि योनिवर्णों (व्यंजनों) के रूप को प्रकाशित करते हुए देते हैं अर्थात् जगत् को अर्पित करते हैं।

सांगीतिक प्रक्रिया से ही रसों का प्रकाशन होता है ऐसा अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः उल्लेख किया है।

“मन की आनन्दमयी वृत्ति को सूचित करने वाले नादमय, पशु-पक्षियों और एक दो दिन में जन्मे शिशुओं में भी उनके संवित् भाव के निकटवर्ती होने के कारण साङ्केतिकता जैसी बाधाओं की अपेक्षा के बिना मौलिक अनुत्तर पद से ही सीधा अवतरित होते हुए और काकु इत्यादि रूपों को धारण करने वाले ये स्वर ही अपने विशुद्ध स्वर रूप में या व्यंजनों में अनुप्रविष्ट होकर, करुण, शृंगार और शान्त इत्यादि रसों के रूप वाली चित्तवृत्ति को क्रमशः रोने-कलपने, चाटुकारिता और स्तुति इत्यादि रूपों में प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार के प्रयोजन को सिद्ध करने के गणवाले होने से इनको उदात्त इत्यादि नाम दिए गए हैं क्योंकि ये उदात्त अनुदात्त और स्वरित ही चित्तवृत्तियों का अनुभव कराने वाले षड्ज आदि स्वरों का मौलिक स्वरूप हैं।¹⁵

इसी प्रकार टिप्पणी करते हुए *परात्रिंशिका* के व्याख्याकार नीलकण्ठ गुरुद्वारा कहा गया है कि

“प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले विवेकी व्यक्तियों ने मानवेतर प्राणियों की विभिन्न बोलियों में भी षड्ज इत्यादि स्वरों की वर्तमानता का पता लगाया है। ये प्राणी भी इन्हीं षड्ज स्वरों के रूप वाली बोलियों में अपने मन की आह्लादमयी वृत्ति को अभिव्यक्त करते हैं।¹⁶

उपर्युक्त विवरण से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का प्रकटन होता है।

1. संगीत आनन्दात्मक होता है।

2. संगीत परासवित् का आभासन एवं अनुत्तरस्वरूप है।
3. संगीत शृंगार, करुण एवं शान्त रस को प्रकाशित करता है।
4. षड्जादि स्वरों का आधार उदात्तानुदात्त स्वरित है।

इन सबके अतिरिक्त अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने अन्य सभी ग्रन्थों में संगीत विषयक वर्णन प्रस्तुत किया है। नाट्यशास्त्र के 29, 30, 31 एवं 32वें अध्यायों (संगीताध्याय) पर विस्तृत टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त *तन्त्रालोक* में भी स्थान-स्थान पर संगीत विषयक चर्चा की गई है।

अभिनवगुप्त से एक ऐसा काल शुरू हो गया जिसमें संगीत को केन्द्र में रखकर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इनमें *संगीतरत्नाकर*, *संगीतसुधाकर*, *संगीतदामोदर* का प्रमुख स्थान है। *संगीतरत्नाकर* को संगीतशास्त्र का प्रधान सैद्धान्तिक ग्रन्थ माना जाता है। इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर संगीतशास्त्र में समस्त नियमों का निर्धारण किया गया। इस ग्रन्थ पर कई टीका ग्रन्थ भी लिखे गए। इसमें संगीत एवं रसों के सम्बन्ध पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके लेखक आचार्य शाङ्गदेव ने इसमें शान्त रस सहित नौ रसों¹⁷ का उल्लेख किया है। इसमें शृंगार हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत एवं शान्त रस हैं। शाङ्गदेव ने रसोपादानभूत नौ स्थायिभावों का भी उल्लेख किया है।¹⁸ *संगीतरत्नाकर* में विभिन्न रसों की व्याख्या के साथ विशिष्ट रसोद्भावन हेतु रागविशेष का विधान भी किया गया है। इसे संगीत का वृहद कोश कहा जा सकता है।

संगीतरत्नाकर पर लगभग सात टीका ग्रन्थ भी लिखे गए जिनमें चार उपलब्ध हैं इनमें 1. सिंहभूपालकृत *संगीतसुधाकर* 2. कल्लिनाथ कृत *कलानिधि*, केशव विरचित *कौस्तुभ* टीका एवं गंगाराम की *सेतु नामक टीका* प्रमुख हैं। इसका उल्लेख कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने स्वतन्त्रकलाशास्त्र भाग-1¹⁹ में किया है।

उपर्युक्त इन सभी ग्रन्थों में भी संगीत के सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त राग एवं शृंगारादि रसों के साथ उनके सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। सभी ग्रन्थों में रसों की संख्या, रसानुभव की प्रक्रिया एवं रसांगों का विशदता से विवेचन किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि काव्यादि कलाओं की ही भाँति संगीत का भी प्रमुख उद्देश्य सहृदय सामाजिक को रसानुभूति कराना है। इस प्रक्रिया में स्वर-विशेष एवं राग-विशेष शृंगारादि विशिष्ट रस का बोध कराने वाले आधार हैं।

प्रसंगानुकूल शान्त रस का भी संगीतशास्त्रीय ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। शान्त रस का सम्बन्ध पूर्णतः अध्यात्म से है और “संगीत कला के आध्यात्मिक महत्त्व को स्वीकृति प्रारम्भिक ग्रन्थों से मिलती रही है। छान्दोग्योपनिषद् में उद्गीथोपासना की विधि²⁰ का उल्लेख किया गया है। इस विधि के अनुसार उद्गीथ अर्थात् ओम् अथवा सामवेद के दूसरे भाग का वीणावादन²¹ के साथ गान करते हुए ब्रह्म के चिन्तन करने का उपदेश है। *रत्नप्रभा* जैसे प्रामाणिक भाष्य में भी

यह प्रतिपादित किया गया कि उद्गीथ परब्रह्म के साक्षात्कार का साधन है। याज्ञवल्क्य ने तो स्पष्टतः उल्लेख किया है कि संगीतकला परममोक्ष की साधिका है। उनके अनुसार

“वह व्यक्ति जो वीणा बजाने का रहस्य जानता है वह बिना कठिन साधना के मोक्ष पथ को पा लेता है। और वह व्यक्ति जो संगीतकला में अपने ध्यान को केन्द्रित करता है यदि चरम मोक्ष पाने में असफल हो जाय तो वह रुद्र का अनुगामी होकर उनके साथ अनेक सुखों का भोग करता है।”²²

वीणावादनतत्त्वश्रः श्रुतिजातिविशारदः।

तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥²³

आचार्य शारदातनय ने *भावप्रकाशन* में संगीत का उल्लेख करते हुए नाटक में नृत्य गीत एवं वाद्य की अनिवार्यता को उपस्थापित किया है।²⁴ नृत्तादि के वर्णन में भावप्रकाशनकार द्वारा गेय (संगीत) को अभिनय का प्राण बताया है एवं धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का साध्य स्वीकार किया है²⁵ *‘संगीतचूडामणि’* में कहा गया है कि योग, ध्यान आदि समस्त साधनों की अपेक्षा गीत ही अनन्त फल देने वाला है। और भुक्ति मुक्ति दायक है।²⁶

संगीतरत्नाकर में भी शाङ्गदेव ने गीत के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उसे मोक्ष का साधक माना है।²⁷

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी *परात्रिंशिका*, *विज्ञानभैरव*, *तन्त्रालोक* आदि में संगीत के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पृष्ठभूमि में अच्छी तरह से वर्णन किया है।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि लोक से ही शास्त्र का निर्माण होता है। इस परम्परा से जितने भी कलागत एवं शास्त्रगत सिद्धान्त हैं सबका उद्देश्य लोक हित है। भरतमुनि ने *नाट्यशास्त्र* में नाट्यादि का उद्देश्य भी लोकरंजन ही बताया है।

दुखार्तानां श्रमार्तानाम् शाकार्तानां तपस्विनाम्

विश्रान्तिं जननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥²⁸

उपर्युक्त श्लोक में स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि नाट्यादि कलाओं का उद्देश्य लोक हित है। अतः संगीतशास्त्र में स्वर एवं स्वर सम्बद्ध रागों का विवेचन भी लोकानुसार परिस्थिति सापेक्ष होता है। अर्थात् स्वर का विधान अनुकूल परिस्थिति हेतु होता है। न कि परिस्थितियाँ स्वरानुकूल होती हैं। इसी आधार पर रसविशेष हेतु विशिष्ट स्वर संयोजन का विधान है जिसे राग की संज्ञा दी जाती है। सामान्यतः यह मान्यता है कि राग में भाव प्रकाशन की शक्ति सीमित होती है इसलिए उसे शब्दों का सहयोग अपेक्षित होता है। यह स्थिति साधारण प्रमातृ दशा में आवश्यक होती है। साधारण प्रमाताओं के लिए लौकिक अर्थ व घटना की समाप्ति के उपरान्त एक प्रभाव

छूटता है। वही संगीत की अनुभूति है। किन्तु अलौकिक भावदशा में किसी प्रकार के अर्थ एवं शब्द की पूर्णतः भावहीनता रहती है। इस दशा में एकमात्र नादरूप ध्वनि का भाव होता है, जिसका सम्बन्ध परमानन्द स्वरूपावस्थिति से ही होता है। प्रमाता का स्वरूप शून्यतायुक्त अनाहतनादमय हो जाता है। यही अवस्था शान्त स्वरूपा है।

संगीत में नाद का बड़ा महत्त्व होता है। नाद दो प्रकार का माना गया है। 1. अनाहत नाद, 2. आहत नाद। अनाहत नाद अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसकी साधना अत्यन्त कठिन होती है और इसके लिए गहन अवधान अपेक्षित होता है। आहत नाद का सम्बन्ध संगीत से है। यह लोकरंजन एवं भवभंजन दोनों ही गुणों में सम्पन्न है। आहत नाद की सिद्धि भी सम्भव है।

नाद के द्वारा शास्त्रों में परमावस्था एवं ब्रह्म की सिद्धि का उल्लेख किया गया है।²⁹ नाद की साधना से सत्, चित् एवं आनन्द की प्राप्ति सम्भव है क्योंकि सच्चिदानन्द का स्वयं का स्वरूप भी नादरूप है। इसीलिए नाद को नादब्रह्म भी कहा जाता है। इस प्रकार नाद के द्वारा आत्मानुसंधान एवं आत्म तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है जिसे मोक्ष कहा जाता है। अतः संगीत के द्वारा यदि मोक्ष प्राप्ति सम्भव है तो संगीत द्वारा प्राप्त अनुभूति भी शान्त रस ही होगी क्योंकि कलानुभव में शान्त रस को ही मोक्ष साधक रस कहा गया है।

सामान्य श्रोता प्रायः आनन्दानुभूति के काल में किसी घटना का स्वयं पर आरोपण कर घटना से प्राप्त सुख एवं दुःख को देखकर रस की अनुभूति करते हैं यह अनुभूति सुख दुःखात्मक होती है। किन्तु अनुभूति काल की चरम अवस्था में किंचित् मात्र सुख-दुःख का अभाव होता है एवं आत्मपरामर्शयुक्ता परमानन्दमय सर्वविकारशून्या होती है। अतः कलानुभव द्वारा पूर्णानन्द की प्राप्ति हेतु यह भी आवश्यक है कि उपयुक्त अधिकारी हो जिसका उल्लेख अभिनवगुप्तपादाचार्य ने *ध्वन्यालोकलोचन* एवं *अभिनवभारती* में विस्तार से किया है। कलानुभव के लिए कलाकार/कवि/संगीतकार के लिए भी भावों को सम्यक् प्रकार से व्यक्त करने की सामर्थ्य का होना अनिवार्य है, जिसे वे कविता, मूर्ति एवं रागाधारित संगीत द्वारा सहृदय प्रमाता तक पहुँचाता है।

जो सहृदय प्रमाता के चित्त को आनन्द से भर दे ऐसे स्वर समूह को एक साथ गाने बजाने पर जो स्वर व्यवस्था प्रस्तुत होती हो उसे राग की संज्ञा दी गई है। राग प्रभाव राग में प्रयुक्त स्वर व्यवस्था के निश्चित सन्तुलन पर निर्भर करता है। संगीत का उद्देश्य जीवन की विश्रृंखलताओं की पुनरावृत्ति करना नहीं है वरन् शरीर और आत्मा के कुछ विशिष्ट मनोरोगों का प्रकट करना और उन्हें प्रकृति और पुरुष में जागृत करना है। रागों के इस आकर्षक, चमत्कारी एवं ऋतुचक्र तथा दैनन्दिन जीव के लयात्मक संस्कार से उनका सम्बन्ध होने के कारण ही उनकी स्पष्ट रूपरेखा किसी स्वर परिवर्तन के द्वारा धूमिल नहीं की जानी चाहिए। स्वरों के माध्यम से की गई सृष्टि को इंगित करते हुए *राग रस एवं बहाने* नामक पुस्तक में उल्लेख किया गया है कि

“वह मुख्यतः अवैयक्तिक है। यह एक ऐसे भावजगत् और अनुभव को अभिव्यक्त करता है, जो व्यक्तिगत मनोभाव अथवा बुद्धिगम्यता से कहीं अधिक गूढ़, विस्तृत और पुरातन है। इसकी व्यथाअश्रुरहित है और इसका उल्लास भी हर्षोन्मत्ताविहीन है। रागात्मक होते हुए भी प्रशान्तता का अभाव नहीं है। गूढ़तम अर्थ में यह पूर्णतया मानवीय है। राग का अन्तिम लक्ष्य परमानन्द की प्राप्ति या निःश्रेयस हो जाना ही है। और कलानुभूति में इसी को शान्त रस कहा गया है।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 10/90/9
2. यजुर्वेद 18/29
3. वही, 15/13
4. वही, 13/54-58
5. ऋग्वेद 6/47 29/31
6. *स्वतन्त्र कलाशास्त्र* (भाग-1) पृ. 536, *सिद्धान्तकौमुदी*, 643
7. सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋतु नपुंसकौ। *रुद्रडमरूद्भवसत विवरण*, 24
8. अ इ उ ण् सरिगाः स्मृताः। *रुद्रडमरूद्भव विवरण*, 26
9. ए ओ ड, म पौ... वही, 26
10. धनी ऐ औ च्, वही, 27
11. उदात्ते निषाद् गान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरित प्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥ *रुद्रडमरूद्भवसूत्र विवरण*, 28-29
12. अभिनवभारती, 32/6-7
13. तदेवम एताः कला एव ह्यदातामात्रचित्तवृत्ति-अनुभावकाः स्वराः इत्युक्ताः श्री श्री *परात्रिंशिका*, पृ. 32
14. श्री श्री *परात्रिंशिका*, पृ. 321
15. एव एव हि चित्तवृत्तिसूचकाः नादात्मकाः करुण-शृंगार शान्तादिकां चित्तवृत्तिम् आक्रन्दन चाटुक-स्तुत्यादौ केवला वा योनिवर्ण निविष्टा वा, तिर्यक्तदहसर्जातादिष्वपि प्रथमत एवापतन्तः संकेत विघ्नादिनरपेक्षेणैव संविदा सन्नवर्तित्वात् स्वर-काक्वादिरूपाताम् अश्रुवानाः प्रकायन्ति इत्यर्थं धर्मा उदात्तादय उपदिष्टाः तेषामे व चित्त वृत्त्यनुभावक षड्जादिस्वरूपत्वात्। श्री श्री *परात्रिंशिका*, पृ. 322
16. षड्जं रैति मयूरस्तु गावो नन्दन्ति चर्षभम्।
आजीविकौ तु गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम् ॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रैति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवत इति निषादं रैति कुञ्जरः। श्री श्री *परात्रिंशिका*, पृ. 322
17. शृंगारहास्यौ करुणो रौद्रो, वीरो भयानकः।
वीभत्साश्चाद्भुतः शान्तो नवधेति रसो मतः ॥ *संगीत रत्नाकर*, 7/358-59

18. रतिहासशुचः क्रोधौत्साहौ भयजुगुप्सते ।
विस्मयश्चाथ निर्वेदः स्थायिभावं नवेत्यमी । *संगीत रत्नाकर 7/1362, 63*
19. *स्वतन्त्रकलाशास्त्र* (भाग-1), पृ. 561
20. *छान्दोग्योपनिषद्*, 1/1/1
21. वही, 1/7/6
22. *स्वतन्त्रकलाशास्त्र* (भाग-1) पृ. 573
23. *याज्ञवल्क्य स्मृति*, 3/115
24. नृतं गीतञ्च वाद्यञ्च नाटकाद्युपकारकम् । *भावप्रकाशन 7/15*
25. गेयं प्राणाः प्रयोगस्य सर्वं वा गेयमुच्यते ॥
गेयसाध्यं हि धर्मार्थकाममोक्षचतुष्टयम् ॥ 7/16-17
26. योगध्यानदिकं यस्मात् सर्वलोकानुरञ्जनम् ।
तस्मादनन्दफलदं गीतं स्याद् भुक्ति मुक्तिदम् ॥ *भारतीय संगीत का सौन्दर्य विधान*,
पृ. 66
27. तस्य गीतस्य महात्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणादिमेवैक साधनम् । *संगीतरत्नाकर*, 1/130
28. *नाट्यशास्त्र* (भाग-1), पृ. 573
29. परावाक् पर्यायस्य ब्रह्मशक्तेर्नादस्यब्राह्मणोऽत्यन्त प्रत्यासन्नत्वात्तद् पासनायां कृतायां
ब्रह्मप्राप्तिमणिप्रभा प्रवृत्तस्य मणिलाभद्भवेदिति । तथा चोक्तम् ।
अतोगीतप्रपञ्चस्य श्रुत्यादेस्तत्त्वदर्शनात् । अपि स्यात्सच्चिदानन्दरूपिणः परमात्मनः ॥
प्राप्तिः प्रभा प्रवृत्तस्य मणि लाभो यथा भवेत् । प्रत्यासन्नतयाऽत्यन्तम् । *संगीतरत्नाकर*,
(भाग-1) स्वरगताध्याय, तृतीय प्रकरण, पृ. 63

संदर्भ-ग्रंथ

- अभिनवगुप्त, *परित्रिंशिका*, व्या. आचार्य श्रीकृष्णानन्दसागर, बंस फाटक, 1987
- अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* तृतीय भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस,
वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1996
- अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* चतुर्थ भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस,
वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1996
- अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* पंचम भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस,
वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998
- अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* षष्ठ भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस,
वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998
- अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* सप्तम व अष्टम भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र
हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1999

- अभिनवगुप्त, *हिन्दी अभिनव भारती*, सं. नगेन्द्र, व्या. आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, हिन्दी
विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1973
- अभिनवगुप्त, *श्री श्री परात्रिंशिका*, व्या. नीलकण्ठ गुरुदू, दिल्ली, मोतीलाल व बनारसीदास,
1985
- अभिनवगुप्त, *विज्ञानभैरव*, व्या. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास,
2004
- पाण्डेय, कान्तिचन्द्र, *स्वतन्त्र कलाशास्त्र*, वाराणसी, चौखम्बा प्रकाशन, 1967
- भटनागर, मधुलता, *भारतीय संगीत का सौन्दर्य विधान*, नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम
कार्यान्वयन निदेशालय, 1995
- भरत, *नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती टीका, चार भाग)* सं. पारसनाथ द्विवेदी, वाराणसी,
सम्पूर्णानन्द द्विवेदी विश्वविद्यालय
- वामन, *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति*, वाराणसी, चौखम्बा अमर भारती, प्रकाशन, 1977
- शुभङ्कर, *संगीतदामोदर*, अनु. हरिराम आचार्य, जयपुर पब्लिकेशन, स्कीम, जयपुर 1998

(घ)

- Masson and Patwardhan, *Santa rasa : Abhinava's Philosophy and Aesthetics*, Poona, Bhandarkar oriental Research Institute, 1975.
- Pandey, K.C., *Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study*, Varanasi, Chaukhambha, 1963.
- Pandey, K.C., *Comparative Aesthetics*, Varanasi, Chaukhambha Sanskrit Series, 1968.
- Raghavan, V. *Number of Rasas*, Madras, The Adyar library and Research centre, 1975
- Raghavan, V. *Studies on Some Concepts of the Alamkarashastra*, Madras, The Adyar library and Research center, 2009

(च)

- कलातत्त्व कोश, सं. कपिला वात्स्यायन, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास
नाट्यशास्त्रा विश्वकोश, राधावल्लभ त्रिपाठी, दिल्ली, प्रतिभा प्रकाशन, 1999
- साहित्यदर्पण कोश, रमणकुमार शर्मा, दिल्ली, विधनिधि प्रकाशन, 2001
- साहित्याशास्त्रा कोश, राजवंश सहाय 'हीरा' पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 2003

कविता के स्वप्न और संघर्ष की पहचान*

मृत्युंजय उपाध्याय**

कल्पना का व्योम अनन्त है। व्यापक और विस्तृत। वहाँ हमारी कामनाओं, ऐषणाओं को अभिव्यक्ति का फलक मिलना है। टी. एस. इलियट ने 'द स्काई लार्क' में कहा है कि पक्षी उड़ता रहे अनन्त में, नापता रहे आकाश का ओर-छोर पर उसे जमीन पर आना ही पड़ता है। उस कठोर और कुरूप धरती पर उतरना पड़ता है। जहाँ से उसने उड़ना सीखा है। कल्पनाकाश तभी तक महफूज है जब तक यथार्थ की कटुता का बोध नहीं होता। कविता का प्रारम्भ स्वप्न से ही होता है। स्वप्न ही उसकी सम्भावनाओं को जगाता है। क्रियान्वित करता है और स्वप्न का सीधा सम्बन्ध यथार्थ से होता है। दिन-प्रति-दिन का नाता समस्याओं से होता है। यथार्थ कठोर, कुरूप और असह्य लगता है, तो स्वप्न कुछ क्षण के लिए सुखद और प्रेरक लगता है। अतएव यह कहना सही है कि स्वप्न हमारे यथार्थ की ही उपज है और उसे सहेजा, सहलाया जाए तो हमारा अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

लेखकानुसार प्रत्येक कविता का जो प्रयोजन, लक्ष्य और ध्येय है वही कविता का स्वप्न है और इसी की सिद्धि के लिए कवि और कविता को संघर्ष करना पड़ता है। कविता मनुष्य के स्वप्नों को जमीन पर उतारती है और मनुष्य की अप्रतिहत शक्ति को धार देती है। मनुष्य को मनुष्य बनाती है। कविता के इस स्वप्न और संघर्ष को हर युग में देखा जा सकता है। इस अर्थ में लेखक ने विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर, सन्तकविगण, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नरेश मेहता, हजारी

*. हिन्दी कविता स्वप्न और संघर्ष, लेखक डॉ. रामसजन पांडेय, प्रथम संस्करण 2011, गौरव बुक्स, के- 4/19, गली न. 5, वैस्ट घौंडा, विश्वास नगर, दिल्ली 110053, डिमाई, पृष्ठ 200, मूल्य अस्सी रुपये (सजिल्द)

** प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन, मनोरम नगर, एल. सी. रोड, धनबाद 826001, झारखंड मो. 09334088307

प्रसाद द्विवेदी, उदयभानु हंस, राधेश्याम शुक्ल, स्वतन्त्रयोत्तर आख्यान-मूलक काव्य में दलित विमर्श आदि पर विचार किया है।

लेखक विद्यापति को 'सामाजिक यथार्थ का कवि' मानते हैं। उनकी मान्यता है :

“सामाजिक अवस्था का, सामाजिक सम्बन्धों का, नारी की दशा का, माँ की ममता का, सब मिलकर स्त्री-विमर्श का कैसा अद्भुत दृश्य-दशा हंस में वर्तमान है।” (पृष्ठ 9)

इतना ही नहीं साम्प्रदायिकता, राजनीतिक संरक्षण के उन्माद, मनुष्य के अमानवीय व्यवहार पर भी उन्होंने विचार किया है। बेमेल विवाह का दारुण स्थिति पर प्रहार है :

पिया मोर बालक हम तरुणी गे।

कौन तप चुकलौं भैलौं जननी गे।

इतना ही नहीं लड़की बाप का शोषण करने से बाज नहीं आती। वह जमाई से दूध खाने के लिए गाय भिजवाने का आग्रह करती है। यहाँ बालक जमाय पर व्यंग्याघात है :

कहिहुन बबा के किनए धेनु गाइ।

दुधवा पिवाइके पोसता जमाइ ॥ (यहाँ पृ. 53)

लेखकानुसार विद्यापति विराट जीवन की देशव्यापी और कालव्यापी चेतनाओं का अंकन कर अपने सामाजिक सरोकारों का सम्यक् चित्रण करते हैं।

सन्त साहित्य (कबीर, रैदास, दादू, दरिया, धन्ना, पीपा, सहजो, पलटू, सुन्दर) आत्मोत्थान द्वारा-बह्मैक्य चाहता है पर जिस समाज में वह रहता है, उसके आस-पास जो लोग हैं, उसके उत्थान का भी प्रयासी है। जिस प्रकार घर के कलश की उपेक्षा कर मन्दिर में कलश स्थापना नहीं हो सकती, उसी प्रकार अपने समाज के एक-एक व्यक्ति के जगे, सहृदय हुए बिनाब्रह्मोपासना नहीं हो सकती। इसके लिए कबीर ने एक ही मन्त्र दिया :

कबिरा सोई पीर है, जो जानइ पर पीर।

जो पर पीर न जानइ, सो काफिर बेपीर।

नरसी, मेहता, तुलसीदास आदि सन्तों ने इसी पर बल दिया :

वैष्णव जन तो ते ने कहिए जो पीर पराई जानी रे। सभी सन्तों ने 'प्रेम' को एकता, सद्भाव मनुष्यता का नियामक और अनिवार्य तत्त्व माना जाता है

विरहा विरहा मन कहौ, विरहा है सुलतान।
जा घट विरह न संचरै, ता घट जान मसान ॥

कबीरदास

रामहिं केवल प्रेम पियारा।
जानि लेहू जेहि जान निहारा ॥

गोस्वामी तुलसीदास

इसी प्रेम के व्यापक सरोकार को व्यक्त करने के लिए जाति-पाँति का विरोध हुआ, धर्म के बाह्याडम्बर (पूजा-नमाज, राम-रहीम, केशव-करीमा का खण्डन हुआ और ध्यान दिया गया कि मनुष्य की खोज हो। पहले वह मनुष्य बने, मानवता के गुणों से पूर्ण। तभी कोई संकल्प पूरा हो सकता है। नर के नरत्व का जयघोष और नर के नारायण की खोज ही सच्चा सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठान है। सामाजिकता का उन्मेष भी। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' सामाजिक चेतना के प्रखर कवि हैं जो भारत की दीनहीन सामाजिक व्यवस्था का अनावरण करते हैं और जनजागरण अभियान चलाते हैं :

अपने को कर लिया मनुष्य ने
निगड-अन्ध-विश्वास-बद्धपग,
तो फिर, मगनशील होकर भी
कहो, क्यों न बन जाए यह अग। (यहाँ पृ. 49)

शोषण, अत्याचार, गरीबी, भूखमरी, कुरीति आदि के विरुद्ध इन्होंने आवाज उठाई और मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रतिबद्ध रहे। लेखक का मानना है :

“मनुष्य या समाज का संस्कार या विस्तार उनके जीवन और उनके कृतित्व का संकल्प था।” (पृ. 65)

उनकी पंक्तियाँ उनका प्रबल साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं :

करो सृजन अभिनव जगती का
नव-नव सामाजिक संहति का
मानव हो विमुक्त, ऐसा हो
शुद्ध प्रयोग तुम्हारी मति का। (यहाँ पृ. 65)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कविताओं की अन्तर्यात्रा करते हुए लेखक उनके अखण्ड देश-प्रेम, सामाजिक प्रतिबद्धता, भाषा के प्रति समर्पणशीलता आदि का व्यापक वितान तानते हैं :

“आचार्य शुक्ल के मन में देश की एकता, अखण्डता, सुख-समृद्धि तथा प्रकृति के प्रति ही अतुलित प्रेम नहीं था वरन् वे भाषा के भी अनन्य प्रेमी साधक थे।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के तो वे सिद्ध-समर्पित सर्जक थे। उसी के उत्कर्ष प्रचार तथा प्रसार से अपने को गौरवान्वित करने की भी वे बात करते हैं।” (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-यात्रा, पृ. 84)

आचार्य शुक्ल ने हृदय की जिस मुक्तावस्था को ‘रसदशा’ कहा है, उसके लिए सहृदय, सामाजिक परदुःखकातर होना नितान्त आवश्यक है तभी रंगमंच के रस का उसमें संचार हो पाएगा। आचार्य भरत नाट्यशास्त्र में ‘सामाजिक’ का अर्थ इसी सन्दर्भ में व्यक्त करते हैं।

उत्तर आधुनिकता, बाजारवाद, विखंडनवाद, वैश्वीकरण की चर्चा आज हो रही है परन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी विज्ञापनी संस्कृति पर पहले ही प्रहार कर चुके हैं :

सारी उमर लेखक ने की ज्योतिष की पढ़ाई,
पर बम्बई वाले ने फतह कर ली लड़ाई।
शुभलाभ, मेष, वृष-मिथुन-फल सब का हाँकता,
साहित्य का सेवक भी मगर है धूल फाँकता। (पृ.93)

नरेश मेहता ‘संशय की एक रात’, ‘महाप्रस्थान’, ‘प्रवादपर्व’, ‘शबरी’, ‘प्रार्थना-पुरुष’ आदि में राजनीति के स्वरूप, दायित्व, यथार्थ आदि पर विरमते हैं। उनके मतानुसार ‘Every thing is fair in love and war’ कहावत भले ही प्रचलित हो परन्तु राजनीति का सरोकार सदा नकारात्मक और स्वार्थ प्रेरित नहीं है उसका सकारात्मक और सुन्दर पक्ष होता है लोक में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की प्रतिष्ठा करना यह तभी सम्भव है जब राज्य, न्याय, और राष्ट्र व्यक्तियों और सम्बन्धों से ऊपर हो। न्याय राष्ट्र के अधीन न हो :

राज्य न्याय और राष्ट्र
व्यक्तियों तथा सम्बन्धों से ऊपर होना चाहिए। (यहाँ पृ. 114)

नरेश मेहता इन बाह्य युद्धों को जीतने के बाद भीतरी युद्ध (विवेक-अविवेक, पुण्य-पाप, करणीय-अकरणीय) जीतने का आह्वान करते हैं। जो होना चाहिए जो वांछनीय, करणीय है, वही स्वप्न है जिसे कभी यथार्थता की कठोरता से जन्मना पड़ता है तो कभी उच्च संस्कार और आदर्श कल्पना में उतारना पड़ता है। वश में जो वस्तु आ गई, जिसे भोग लिया, जीत लिया वह यथार्थ है, जिससे विकर्षण सहज स्वाभाविक है। पर यहीं से प्रारम्भ होती है स्वप्न की यात्रा

कर स्पर्श से दूर स्वप्न, झलमल नर को भाता है,
छककर जिसको पी न सका, वह जल नर को भाता है।

उर्वशी : रामधारी सिंह दिनकर

लेखक ने स्वतन्त्रता के बाद रचित आख्यान मूलक प्रबन्ध-काव्य में दलित विमर्श की प्राणवन्त अभिव्यक्ति पाई है। कृतियाँ उल्लेखनीय हैंकर्ण : केदार नाथ प्रभात, शबरी : मायादेवी शर्मा, रश्मि रथी : दिनकर, सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, प्रवाह पर्व और शबरी : नरेश मेहता, भूमिजा : रघुवीर शरण मित्र आदि ऐसी कृतियों में दलितों को उनका सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य मिले उनकी अस्मिता की सही पहचान और कद्र होइस पर पूरा ध्यान दिया गया है।

चर्चित कवियों के स्वप्नों, आदर्शों और प्रतिबद्धताओं को किस प्रकार अभिव्यक्ति का आयाम मिला है उन्हें कैसे संघर्षों, यन्त्रणाओं से गुजरना पड़ा है, लेखक ने इसे व्यापक आकाश दिया है। हिन्दी कविता की विकास यात्रा और उसकी उपलब्धियों पर भी प्रकाश पड़ा है। लेखक अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। भाषा में प्रवाह और आलोचना टर्मिनोलॉजी का सही उपयोग हुआ है। साज-सज्जा, मुद्रण नयनाभिराम है लेखक को साधुवाद।

पुस्तक समीक्षा

गिरते हुए पत्तों का बयान : आम आदमी का दर्द*

डॉ. कामेश्वर पंकज**

‘गिरते हुए पत्तों का बयान’ वरिष्ठ कवि भोला पंडित ‘प्रणयी’ का पाँचवाँ काव्य-संग्रह है। एक सौ बारह पृष्ठों के इस संग्रह में कुल उनसठ कविताएँ संगृहीत हैं। विभिन्न शिल्पों एवं भाव रूपों में ये कविताएँ आम आदमी की पीड़ा, तड़प और कसक को व्यक्त करती हैं।

कवि पंडित ने अपने संग्रह के शीर्षक में ही अपनी कविताओं के तेवर को जाहिर कर दिया है। ‘पत्ते’ आम आदमी की जो परेशानियाँ हैंयह कविता-संग्रह उसका बयान है। जब कवि यह कहता है कि

बहुत बार
कृत्रिम रोशनियों ने
कुचला है
मेरी झोंपड़ियों के अंधेरे को।
यह जानते हुए भी कि
ये आती-जाती चहकती रोशनियाँ
मेरे पास ठहरेंगी नहीं।
इस स्याह रात में।
मुझे तो करना ही होगा इंतजार।

(परछाइयाँ, पृ.25)

ये रोशनियाँ जीवन की उम्मीद हैंव्यक्ति की जिजीविषा। आमआदमी इसी के सहारे जीवन बिता देता है। यह उम्मीद ही उसे कभी अकर्मण्य तो कभी संघर्षशील बनाती है।

* कृति : कुहरे की वजह से : अरुण कुमार : अभिधा प्रकाशन; रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर।

** डॉ. कामेश्वर पंकज, दर्शन शाह महाविद्यालय, कटिहार।

‘पत्ते’ यदि आम आदमी का प्रतीक है तो ‘गिरते हुए’ विशेषण उसकी परिपक्वता का संकेत है। वह व्यक्ति जिसने भारत की आजादी का संघर्ष देखा है, आज वह किसी टूटे हुए पत्ते की तरह ही है। उसने अपने बचपन की आँखों में विदेशी अत्याचार देखा है, जवानी के दिनों में आजाद भारत के सुनहरे सपनों को संजोया है, वह व्यक्ति आज अपने चौथेपन में जब विकसित भारत में ‘आम-आदमी’ की जगह तलाशता है, तो उसे निराशा मिलती है और 15 अगस्त के दिन वह कह उठता है

इस बासठ वर्षीय लोक तंत्र में
फटी हुई चादर सीने में चौथापन है आया
लेकिन चादर सीने वाला
खुद भी है बौराया।

(क्या देख रहे अगस्त, पृ.86)

लोकतंत्र के पैरोकार इसमें पैबंद लगाकर थक गए लगते हैं। कवि उसके बयान को कुछ इस तरह दर्ज करता है

फिर क्यों कट रहे
ये बरगद के पेड़
क्यों गिर रहे ये पत्ते
क्यों लिपट गया
इस बड़े लोकतंत्र के गले में
एक मरा हुआ साँप।

यहाँ ‘मरा हुआ साँप’ मुहावरा की व्यंजना ढेर सारे अर्थों को खोलती है भ्रष्ट नेता से लेकर क्षेत्रीय अलगाववादी प्रवृत्ति के तत्त्वों के बीच सारे उपादानों को और कवि का संकेत है।

संग्रह की ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जैसे अस्मिता, अभिधायक, परिवर्तन, ऊपर-ऊपर बहती धार, खून नहीं बनता है, शीर्षक की तरह, पंद्रह अगस्त आदि। इन कविताओं में कवि व्यवस्था के विरुद्ध आम आदमी के पक्ष में खड़ा है। ‘ऊपर-ऊपर बहती धार’ शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं

देश की आधी आवादी
दो जून की रोटी को लेकर
आश्वस्त नहीं है।
वास्तव में
इस देश में सुव्यवस्था की कसौटी
यह न रह गई कि
यहाँ कितने लोग करोड़पति हैं

बल्कि
यहाँ की आम जनता में
भुखमरी कितनी है।

‘प्रणयी’ जी का रचना संसार बहुत बड़ा है। चार उपन्यास, एक कहानी-संग्रह, पाँच कविता-संग्रह, दो खंड काव्य एवं अन्य। इतनी रचनाओं के बाद कोई रचनाकार भाव संप्रेषण एवं शिल्प संयोजन के स्तर पर परिवक्व हो जाता है प्रणयी जी के साथ भी यही है। ‘प्रणयी’ जी की प्रायः कविताएँ भाव के स्तर पर जितनी गंभीर है, शिल्प के स्तर पर भी उतनी ही उन्नत है। एक उदाहरण है ‘शिवजी का सैलून’। शिव नाम का एक नाई है। इस नाई का चरित्र लेख काव्यात्मक ढंग से इस कविता में है। मेरी नजर में इस संग्रह की यह सबसे बेहतरीन कविता है। 140 पंक्तियों की यह कविता भाव संकुल और प्रवाह में बेजोड़ है। इतिवृत्तात्मक ढंग से अंत होती हुई अंत में कुछ शिथिल हो गई है शायद इसलिए कि कविता पर विजन हावी हो गया है।

संग्रह की अन्य कई कविताओं के अतिरिक्त दो कविताएँ अधिक धारदार हैं। ये कविताएँ हैं ‘गिरते हुए पत्तों का बयान’ और ‘गिरते हुए पत्तों का आखिरी बयान’। ये दोनों ही कविताएँ आज की व्यवस्था के सीधे सवाल करती हैं। पहली कविता पूछती है

और आज
न्याय की तुला पर
उँगलियाँ क्यों उठ रहीं?
क्यों बच जाते हैं
आपकी पारदर्शी दृष्टि से
बड़ा-बड़ा शेर, अजगर।

(गिरते हुए पत्ते का बयान, पृ. 15)

दूसरी कविता में यह बयान दर्ज है

श्रीमान्
हमारा काल-खंड दरक रहा है।
भूमि अधिकार का मुद्दा
यद्यपि युगों से यथावत् है।
संत विनोबा भावे के सपने
और लोक नायक की संपूर्ण क्रांति
कहाँ साकार हुए...
कालू का हल-बैल
कहाँ चला इस भूदान की भूमि पर..

(गिरते हुए पत्तों का आखिरी बयान, पृ. 109)

वस्तुतः इस संग्रह में इन दो कविताओं के बीच संग्रह की शेष कविताएँ साँस ले रही हैं। यद्यपि संग्रह में कुछ कमजोर कविताएँ हैंउनकी शिथिलता विषयगत है। इस संग्रह में सबसे अच्छी बात यह है कि कवि जो कुछ कहना चाहता हैवह समझ में आ जाता है।

कवि दो टूक कहता है

आपने कौन-सा ऐसा
तोहफ़ा दिया मुक्क को
जिससे आपको 'भारत रत्न' की उपाधि से
अलंकृत किया जाए।
× × ×
सिर्फ गाल बजाने
और मीडिया के पृष्ठ पोषण से कोई
रत्न नहीं बन जाता।

(आखिरी बयान, पृ. 108)

श्रीमान्
आप तो मर्यादा की सर्वोच्च कुर्सी पर
आसीन हैं।
इन गिर रहे पत्तों करे बचाइए!
और बचाइए इन्हें गोदराई हवा से
मुल्क में बन रहे 'सेजों' से
नंदीग्राम से और नव साम्राज्यवाद से।

हैं। पर ईमानदारी और नैतिकता के भी कुछ तकाजे होते हैं। ईमान की कर्हें तो सभी कृतियाँ अपनी अभिव्यक्ति में पाठक को आश्वस्त नहीं करती हैं, लेकिन समय की सीढ़ी चढ़ रही कोई कृति यदि अपनी तात्कालिकता में हिस्सेदारी करती है तो वाकई वह सृजन का नया परिदृश्य रचती है। इस तरह, मनुष्य की अदम्य जिजीविषा उसके तप्त-दग्ध संघर्षों तथा उसकी स्मृतियों से छनकर निकली कविता के शब्दों से गुज़रना सृजन-संवेदन के श्रेष्ठ क्षणों से भी गुज़रना है। क्योंकि इन्हीं खास क्षणों में रची जा रही कविता अँधेरे की गल्प बनती है। 'कुहरे की वजह से' अपनी भाषा में अपने समय के सच के आख्यान की नई इमारते हैं, जो अँधेरे में भी आश्वस्त करती है। ऐसे में कैसे न कहूँ कि अरुण कुमार की कविता दर्द में घुली संवेदना की स्वच्छ एवं समर्थ कविता है।

कवि ने जीवन के गहरे दुःख, अपनी उदासी, अपनी पीड़ा, वेदना और अवसाद जो कि कुहरे की वजह से है, के प्रकटीकरण के लिए उसी अनुरूप भाषा की तलाश

की है। इस काव्य यात्रा में बड़े सुघड़-सघन बिंब उभरे हैंभंग हुए हैं। लेकिन कवि का दुःख पृथ्वी जैसा दुःख बना रहता है। कविता में विन्यस्त स्त्री एक और दुःखी पृथ्वी है 'रात रचती है एक स्त्री जो होती है पृथ्वी'। इतना ही नहीं, कविता में चलते हुए कवि पूरी धरती का विलाप भी सुनता है और इसीलिए वह पृथ्वी पर बची थोड़ी धूप और हवा ढूँढ़ लेना चाहता है। दरअसल, यह कवि का एकांत है जो शब्द में बजता चलता है। एक अव्यक्त कोलाहल है, जिसे वह कविता के एकांत में ग्रहण करता है। यह सब कुछ कवि अपनी दुर्द्धर्ष बौद्धिकता से दूहता चलता है।

'कुहरे की वजह से' शब्द की अनेकार्थक उपस्थिति में समकालीन कविता का नया दृश्य रचती है जहाँ भाषा का एक मोहक जादुई यथार्थ है जो इन कविताओं को फिलहाल लिखी जा रही कविताओं से एकदम अलग पहचान देता है। कवि का यह कथन कि "अकसर/कुहरे में कविता का/शब्द में लौटना थोड़ा कठिन होता है" कवि ने यह कठिन कर्म अपने सृजन-संदर्भ में बड़े कायदे से साध लिया है। सच, अरुण कुमार अपनी अनुभूति और संवेदना का रूपांतरण जिस बौद्धिकता के साथ सहज ढंग से करते हैं, वह पाठक को काफी गहरे स्तरों तक स्पर्श कर जाती है।

सूफी संत की याद डॉ. बीनज जी ने जुलाई-सितंबर अंक में मार्मिक ढंग से दिलाई है। हिन्दी वर्तनी की समसयाएं - श्री धर्मदेव तिवारी, हिन्दी के वर्तनी ... आधारश्री रवीन्द्र पाठक जी के लेखों का साधारण जन के लिए हृदयंगम करना कठिन है। फिर भी आपके लेखकों और संपादक मंडल को कोटिशः धन्यवाद। हमारी उत्सुकता है कि हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास और इसमें प्रयुक्त भाषाओं का वितरण भी प्रकाशित करें। ...

- डॉ. भोला प्रसाद, मनहारी, जिला-कटिहार-854113

पाठकीय प्रतिक्रिया

जुलाई-सितम्बर 2012 का चिन्तन-सृजन संज्ञक त्रैमासिक पत्रिका का अंक प्राप्त हुआ। वस्तुतः उक्त पत्रिका के प्रत्येक अंक की आकुलता के साथ प्रतीक्षा अनवरत बनी रहती है। हस्तगत होते ही इसे आद्यन्त पढ़ने के पश्चात ही कोई अन्य पाठ्य सामग्री हाथ में लेता हूँ, क्योंकि उक्त पत्रिका के संपादकीय से लेकर समस्त आलेख चिन्तन-मनन योग्य होने के कारण मस्तिष्क को स्वस्थ खुराक देते हैं।

पत्रिका का मेरुदण्ड संपादकत्व होता है। एक तरफ वह स्तरीय आलेखों का चयन करता है, तो दूसरी तरफ अपने संपादकीय से पाठकों के मन-मस्तिष्क को झकझोर देता है। प्रस्तुत अंक के सम्पादकीय में यह स्वीकार किया गया है कि “भारतीय राजनीति में चाटुकार कभी भी इतने सशक्त नहीं हुए थे, जितने आज हैं। इस देश की राजनीति करोड़ों विदेशियों को देशी तथा लाखों देशियों को विदेशी बना सकती है। दंगे कराना उसके बाँये हाथ का खेल है। चाचा -भतीजा लड़ पड़ें तो देश के किसी हिस्से के लोगों को खदेड़ने का अभियान शुरू करा दो, उन्हें परमिट देने का प्रस्ताव कर दो।” ऐसे यथार्थ-परक तटस्थ मन्तव्य सेपत्रिका की निष्पक्षता के साथ-साथ गरिमा भी संबद्धित होती है। इसके साथ ही रामेश्वर मिश्र पंकज द्वारा प्रस्तुत ग़ोरा की विश्लेषणात्मक व्याख्या, राजीव रंजन उपाध्याय, नरेश कुमार अम्बष्ट के आलेखों ने भी समझको धनात्मक किया है।

प्रस्तुत पत्रिका दीर्घजीवी हो- यही हार्दिक कामना है।

- प्रो. धर्मदेव तिवारी ‘शास्त्री’, ग्राम चकिया,
पोस्ट-पूर, जिला-बलिया-277124

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

असबाब-ए-वीरानी, रमेशचंद्र शाह; प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण: 2011; पृष्ठ: 152; मूल्य: 250/ रुपये।

मेरी प्रिय कहानियाँ, रमेशचंद्र शाह; प्रकाशक: राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006; संस्करण: 2012; पृष्ठ: 128; मूल्य: 95/ रुपये।

शब्द तो कुली हैं, सरोजकुमार; प्रकाशक: शिल्पायन, 10295, लेन. न.1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032; संस्करण: 2012; पृष्ठ: 96; मूल्य: 150/ रुपये।

पत्रिकाएँ :

प्राणालोक, ईमानदार अभिव्यक्ति का चातुर्मासिक पत्र, वर्ष 36, अंक 16 (अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर 2012); सम्पादक: दर्शन राही; प्रकाशक: 'प्राणालोक' संस्था के लिए राम दर्शन मिश्र 'राही', एम 60, हाउसिंग बोर्ड कालोनी बोदाबाग, रीवा-486001(म.प्र.); पृष्ठ: 32; मूल्य: 20/ रुपये।

शोध पत्रिका, वर्ष 61, अंक 1-4 (जनवरी-दिसम्बर 2010); पूर्णांक 242-245; सम्पादक: जीवनसिंह खरकवाल; प्रकाशक: साहित्य संस्थान (इंस्टिट्यूट ऑफ राजस्थान स्टडीज) जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डीम्ड) विश्वविद्यालय, उदयपुर-313001 (राजस्थान); पृष्ठ: 176; वार्षिक मूल्य: 60/ रुपये।

उद्योग नगर प्रकाशन, साहित्य, कला, प्रकाशन और संस्कृति को समर्पित साप्ताहिक, वर्ष 9 : अंक 15

गाजियाबाद 20 नवम्बर 2012; सम्पादक: विकास मिश्र, 695, न्यू कोट गाँव, (तेजाब मिल), जी.टी. रोड़, गाजियाबाद-201009; पृष्ठ: 4; मूल्य: 1/ रुपये।

MAgzAV, # 6 – January 2012; printed at Mother Grace Offset, Pondicherry. Page: 64, Price: Rs. 100/-

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848